साधना से सिद्धि के आधारभूत सिद्धान्त

– श्रीराम शर्मा आचार्य

साधना से सिद्धि के आधारभूत सिद्धान्त



लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

२००९ मूल्य : १३) रुपया

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

योग साधनाएँ पूर्णतः विज्ञान सम्मत

अध्यात्म विज्ञान के साथ एक आश्चर्य चकित करने वाली संभावना जुड़ी हुई है। वह है—अचेतन मनः क्षेत्र की प्रसुप्त पड़ी हुई दिव्य क्षमताओं को जगाना एवं सक्रिय बनाना। इस सन्दर्भ में भौतिक विज्ञानी भी कुछ कुरेद बीन करते रहे हैं और जो उनके हाथ लगा है उसे देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—व्यक्ति में विज्ञान पराक्रम जन्य क्षमताओं की तुलना में कहीं अधिक उच्चस्तरीय प्रभावी एवं समर्थताओं से भरी पूरी सत्ता विद्यमान है। दूरदर्शन, दूर श्रवण, भविष्य कथन विचार संचालन जैसे अगणित प्रयोग परीक्षण—परा मनोविज्ञान—मैटाफिजिक्स के आधार पर हुए हैं और उस आधार पर इस तथ्य की परिपूर्ण पुष्टि हो चुकी है कि मानवी अंतराल में दिव्य क्षमताओं का अजस्त्र भण्डार छिपा पड़ा है। नोबेल पुरस्कार विजेता ऐलेक्सिस कैरेल ने अपनी 'मेन दि अननोन' पुस्तक में अगणित तथ्य प्रमाण प्रस्तुत करते हुये यह सिद्ध किया है कि सामान्य जीवन में चेतना की सामर्थ्य का मात्र सात प्रतिशत ही प्रयुक्त होता है। जो उपयोग में आता है वह हल्का उथला एवं इतना है जिससे अन्य प्राणियों की तरह निर्वाह क्रम चलता रहे। जो विभूतियाँ अंतराल में प्रसुप्त स्थिति में पड़ी हैं उन्हें जाना और जगाया जा सके तो निस्सन्देह मानवी अस्तित्व को उतना सक्षम पाया जा सकता है कि वह अपनी कायिक एवं मानसिक प्रयोगशाला के सहारे भौतिक जगत की उन सभी सम्पूर्णताओं एवं सम्पदाओं को उपलब्ध कर सके जिन्हें विज्ञानी बहुमूल्य उपकरणों के सहारे हस्तगत करते हैं।

जानने योग्य एक बात और भी है कि जिस तरह परमाणु में सन्निहित असीम शक्ति विश्वव्यापी पदार्थ प्रकृति का एक अंश मात्र है, उसी प्रकार व्यक्ति चेतना भी विश्व चेतना का एक अंश है। परमाणु की सामर्थ्य उसका निजी वैभव नहीं है, वरन् विराट्

विश्व की शक्ति समुद्र की एक लहर बूँदभर है। उसी प्रकार चेतना की अपनी स्वतन्त्र हस्ती कुछ भी नहीं है। वह विश्व चेतना में ही अपनी पात्रता एवं आवश्यकता के अनुरूप सामर्थ्य अर्जित करती रहती है इस चेतना लोक का अपना अस्तित्व है। अदृश्य सूक्ष्म जगत में प्रकृति की ऐसी अविज्ञान शक्तियों का आभास मिल चुका है जो विदित एवं उपलब्ध वैभव की तुलना में असंख्यों गुना अधिक है। ठीक इसी प्रकार चेतना के दिव्य लोक का अपना अस्तित्व है और उसमें इस स्तर का वैभव भरा पड़ा है जिसकी परब्रह्म की विश्व चेतना के रूप में तत्त्व दर्शन द्वारा चर्चा की जाती रही है।

इस दिव्य लोक का निरूपण पुरानी भाषा में परमेश्वर, देव परिकर, ऋद्धि-सिद्धि स्वर्ग मुक्ति आदि के रूप में किया जाता रहा है। उसके लिए योग, तप, जप, ध्यान, पूजा, पुरश्चरण आदि की प्रक्रिया अपनाई जाती रही है और ऐतिहासिक साक्षियों के आधार पर यह सुखद परिणति भी उपलब्ध होती रही है जिन्हें देखते हुए इन प्रयोग परीक्षणों की परिपूर्ण सार्थकता सिद्ध की जा सके।

इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए—मध्यकाल में सर्वत्र अन्धकार युग फैला और विकृतियों एवं अवांछनीयताओं का बोलबाला रहा। राजनीति से लेकर अर्थ व्यवस्था के क्षेत्रों में जब अनाचार अपना सिर आसमान तक उठाये हुए है तब धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में ही यह आशा कैसे की जाय कि वह छद्म सनक एवं निहित स्वार्थों की पकड़ से बचा रहेगा। पिछले दिनों यही स्थिति रही है और आज भी वैसी ही है। ऐसी दशा में अध्यात्म का तत्त्व दर्शन ही नहीं, प्रयोग, उपचार भी बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो गया है। जो बना है उसे एक प्रकार से छिलका छूँछ खिलौना, नमूना भर कह सकते हैं। प्रत्यक्ष है जो कुछ इन दिनों अध्यात्म के नाम पर माना अपनाया जाता है वह न केवल अधूरा है, वरन् भ्रान्तियों एवं विकृतियों की भी उसमें बुरी तरह घुसपैठ है। फार्मूला गलत होने पर श्रम निरर्थक ही जाता है। ऐसा ही इन दिनों भी हो रहा है। उपासनात्मक उपचार करने

वाले जब प्रतिफलों के संबंध में निराश होते हैं तो एक प्रकार से नास्तिक ही बनते जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक अत्यन्त उच्चस्तरीय एवं महान संभावनाओं से भरे-पूरे विज्ञान को उपहासास्पद बनना—तिरस्कृत होना पड़ता है। इस स्थिति से भारी हानि यह हो रही है कि उन असाधारण उपलब्धियों से व्यक्ति और समाज को वंचित रहना पड़ रहा है जो समस्त मानवी समुदाय को आंतरिक उत्कृष्टता एवं बहिरंग सुसम्पन्नता से भरा पूरा रख सकती थीं।

सृष्टि के इतिहास में कई बार खण्ड प्रलय होती रही है। हिम युग आये हैं और उनमें भयानक विनाश के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान के अनेक उपार्जनों को भी एक प्रकार से विस्मृत किया है। इतने पर भी सृष्टा का वह अनुदान मनुष्यों को मिलता ही रहा है कि अनुवांशिकी के आधार पर पूर्वजों के संचित ज्ञान की हल्की-फुल्की ज्योति जलाये रह सके और समयानुसार उसे पुनर्जीवित कर सकने में सफल हो सके। खण्ड प्रलयों के इतिहास से अवगत मनीषी बताते हैं कि विभीषिकाओं के युग कितने ही विनाशकारी एवं लम्बे क्यों न रहे हों, वे जब समाप्त हुए हैं तो मनुष्य ने देर सबेरे में उसे किसी न किसी प्रकार एक या दूसरे रूप में पुनः उपलब्ध कर लिया है। अध्यात्म विज्ञान के यथार्थवादी पुरातन स्वरूप के मध्यकाल के अन्धकार युग में विलुप्त या विकृत हो जाने की स्थिति को भी हिम प्रलय जैसी दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना की तरह ही समझा जा सकता है। इतने पर भी निराश होने का कोई कारण नहीं। आनुवंशिकी का आश्वासन है कि जो खोया है उसे नये सिरे से प्रबल पुरुषार्थ में जुट पड़ने पर पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

भौतिक शक्तियों के चमत्कारों से हम सभी परिचित हैं। लेसर किरणों की—ऐण्टी मैटर—ऐण्टी यूनीवर्स आदि की चर्चा दाँतों तले उँगली दावकर की जाती रहती है। अब इसी स्तर की एक और उपलब्धि करतलगत हो सकने की बात बन रही है जिसके आधार पर अतीन्द्रिय क्षमताओं को उभार कर मनुष्य को

न केवल चरित्र व्यवहार, वैभव की दृष्टि से वरन् अंतःशक्ति के साथ जुड़ी हुई विलक्षण ऋद्धि-सिद्धियों की दृष्टि से भी सुसम्पन्न बनाया जा सके। इस संभावना को देव युग का पुनर्जीवन अथवा धरती पर स्वर्ग के अवतरण वाला सतयुग कहा जा सकेगा।

आत्मिकी के ईश्वर, आत्मा, कर्मफल, पुनर्जन्म जैसे प्रतिपादन कुल मिलाकर मनुष्य को नीति समर्थक एवं उदार बनने की प्रेरणा देते हैं। यदि उनका उच्छेदन कर दिया जाय और कहा जाय कि "मनुष्य मात्र चलता फिरता पेड़ है, उदरपूर्ति एवं प्रजनन तक ही उसका अस्तित्व है, मरण के उपरान्त उसका कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता, स्वचालित अणु परमाणुओं का संयोग वियोग ही मनुष्य जीवन है" तो समझना चाहिए कि वह सारा आधार ही नष्ट हो गया जो मानवी गरिमा के नाम से जाना जा रहा है। प्रकारान्तर से उन सभी मान्यताओं का खण्डन हो गया जो मनुष्य को संयमी, सदाचारी, कर्त्तव्य परायण, उदार एवं सदाशयता के समर्थन में कष्ट तक उठाने की उदारता बरतकर प्रसन्न होने की प्रेरणा देती हैं। कहना न होगा कि आदर्शों से रहित-निरंकुश मानवी बुद्धि के लिए तब उद्धत स्वार्थ साधना के लिए पूरा द्वार खुल जायगा। ऐसी दशा में जंगल का कानून ही चलेगा। तब बड़ी मछली छोटी को निगलेगी। बड़ा पेड़ समीपवर्ती पौधों की खुराक खींचने में कोई संकोच न करेगा। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का 'सर्वाइवल आफ दी फिटेस्ट' का सिद्धान्त सही और स्वाभाविक ठहराये जाने पर मानवी सभ्यता की कैसी दुर्दशा हो सकती है, मनुष्य की बुद्धि उन मान्यताओं को अपनाकर किस सीमा तक अनाचरण पर उतर सकती है—इसकी आज तो एक झाँकी भर मिल रही है। वह दिन दूर नहीं जब इस अभिनव प्रतिपादन के परिपूर्ण रूप में होने पर हिम-युग एवं खण्ड प्रलय से भी अधिक भयानक स्थिति उत्पन्न होगी। आज तो लुक-छिपकर अनाचरण बरते जाते हैं किन्तु अगले दिनों नृशंस स्वेच्छाचारी शासकों की तरह सर्वत्र कत्लेआम मचाते दृष्टिगोचर होंगे। अन्तःकरण की

पुकार से लेकर मानवी गरिमा तक के उन आदर्शों के लिए कहीं कोई स्थान रह नहीं जायगा जिनके कारण "बन्दर की औलाद" कहाये जाने वाले मनुष्य ने विश्व का मुकुटमणि बनने की स्थिति तक पहुँचने में प्रगति की है।

यह सब पारस्परिक सहयोग और उदार अनुदान की नीति अपनाने से ही संभव हुआ है। सामाजिक सभ्यता और वैयक्तिक संस्कृति का प्रादुर्भाव तथा उत्थान इन्हीं उत्कृष्टता—पक्षधर आस्थाओं के सहारे संभव हुआ है। यदि यह आधार नष्ट हो गया तो हमें फिर आदिम युग की ओर वापिस लौटना होगा। शायद वह भी न बन पड़े क्योंकि बुद्धि कौशल के रहते आदर्शहीन व्यक्ति मात्र पिशाच ही बन सकते हैं। पशुता के स्तर तक उतर कर सन्तोष कर लेने के लिए भी उन्हें सहमत न किया जा सकेगा। इस संभावना की आंशिक झाँकी आज भी हो रही है। अनास्था युग के बाल्यकाल में जब स्वार्थपरता का विस्तार निष्ठुरता से लेकर आततायी प्रवृत्तियों के रूप में बेतरह विकसित हो रहा है तो फिर प्रौढ़ता आयेगी तो हर व्यक्ति अपने समीपवर्तियों की गर्दनें नापता हुआ दूरवर्तियों का सफाया करेगा। फलतः सृष्टि विकास के समय उपजे अनगढ़ महागजों महासरीसृपों, महाव्याघ्रों की तरह अभावों और आक्रमणों की आग में जलकर समाप्त होना पड़ेगा।

आज जो उपेक्षा, असहयोग विज्ञान और अध्यात्म के मध्य दिखाई पड़ती है, उसे मिटाकर, विग्रह की वृत्ति को हटाकर, सहयोग भरी रीति-नीति की प्रतिष्ठापना कर, समुद्र मंथन जैसे सत्परिणाम पा सकना पुनः इस धरती पर संभव है। दैनन्दिन जीवन में सहकार के परस्पर विरोधी परिणामों के प्रतिफल आये दिन सामने आते रहते हैं पर जब विज्ञान व अध्यात्म परस्पर मिलेंगे तो उनका सहयोग अनूठा ही होगा। सभी जानते हैं कि ठण्डे व गरम तार मिलकर बिजली का प्रवाह बनाते हैं। जब दो विध्वंसकारी रचनात्मक शक्तियाँ एक ही उद्देश्य हेतु नियोजित होंगी तो उनके सम्मिलित प्रयासों की फलश्रुति अपनी इस धरती

को सुन्दर और अधिक सुव्यवस्थित व सुसंस्कृत बनाने के रूप में ही निकलेगी इसमें कोई संदेह नहीं। यह एक स्वप्न नहीं वास्तविकता है। आग-पानी के मिलने से भाप बनने तथा उसके रचनात्मक कार्यों में लगने पर कमाल दिखाने जैसी परिणति-अध्यात्म सहयोग की होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अनेकानेक प्रमाण-तथ्य बताते हैं कि इस परिकल्पना को साकार रूप देने पर कितने सुन्दर परिणाम निकल सकते हैं।

मरणोतर जीवन का जब अस्तित्व सिद्ध होने ही जा रहा है तो फिर उस कड़ी को भी जोड़ना ही पड़ेगा जिसके अनुसार पितरों की दुनियाँ का जीव जगत के साथ आदान-प्रदान चल पड़े। ऐसा संभव हो गया तो समझना चाहिए कि एक और अपनी जैसी ही नई दुनियाँ के साथ रिश्ता जुड़ गया। इसमें दोनों ही लोकों के निवासियों का सुखी समुन्नत होना और एक-दूसरे की महत्त्वपूर्ण सहायता कर सकना संभव हो सकता है।

व्यक्ति के हिस्से में थोड़ी-सी समर्थता आई है किन्तु वह जिस विराट् भण्डार से—परब्रह्म से जुड़ा है—उनकी सामर्थ्य का कोई अंत नहीं। कम ताकत का बल्व धीमी रोशनी देता है, पर यदि उसी स्थान पर बड़ी ताकत का बड़ा बल्व लगा दिया जाय तो उसी बिजली फिटिंग से अनेक गुना प्रकाश उत्पन्न हो सकता है। बिजली की लाइन में उतनी सामर्थ्य रहती है कि छोटे उपकरणों के स्थान पर बड़े लगा देने पर अधिक ऊर्जा पाई और अधिक सुविधा उठाई जाय। परब्रह्म सत्ता के साथ आमतौर से आत्मा का सीमित एवं सामान्य संबंध ही रहता है, पर यदि व्यक्ति को अधिक परिष्कृत बनाया जा सके तो वह अदृश्य जगत की महान दैवी शक्तियों से भरपूर लाभ उठा सकता है और उस आधार पर अपनी सफलताओं में चार चाँद लगा सकता है।

अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय से व्यक्ति के अंतराल को परिष्कृत करके आज की तुलना में उसे अनेक गुना समर्थ एवं श्रेष्ठ बनाया जा सकता है। उसी प्रकार विश्व चेतना की असीम

संभावनाओं में उसे इतना कुछ आकर्षित किया जा सकता है जिससे मनुष्य के स्तर स्वरूप एवं वर्चस् में काया कल्प, जैसा सुखद सत्परिणाम उत्पन्न हो सके। ऐसी ही उपलब्धियों को प्राचीन काल में दैवी वरदानों के नाम से पुकारा जाता था। आज भी इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न होते रहने की संभावना पूर्ववत् ही बनी हुई है।

अन्तरिक्ष में पदार्थ सम्पदा उससे कहीं अधिक भरी पड़ी है जितनी कि जल और थल में, तरल एवं ठोस रूप में पायी जाती है। जिस प्रकार जल और थल का वैभव मनुष्य के काम आता है उसी प्रकार अन्तरिक्ष में भरी पूरी वही सम्पदा फिर से ठोस एवं द्रव के रूप में परिणत करके धरती की सम्पदा में असंख्य गुनी वृद्धि हो सकती है।

यज्ञ प्रक्रिया प्राचीन काल में शारीरिक मानसिक दुर्बलता और रुग्णता के निवारण में अत्यधिक सहायक सिद्ध होती रही है। इसके अतिरिक्त उस माध्यम से वातावरण का परिशोधन एवं प्राणपर्जन्यों का अभिवर्षण भी संभव होता रहा है। इसमें व्यक्ति और समाज की स्वस्थता, समृद्धि एवं प्रगति की कितनी ही संभावनाएँ बढ़ती हैं। इस उपेक्षित एवं अस्त-व्यस्त यज्ञ प्रक्रिया को यदि फिर से नये परीक्षणों के साथ एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया का रूप दिया जा सके तो उसकी परिणति समस्त संसार पर दैवी वरदान बरस पड़ने के समान ही सौभाग्य भरी सिद्ध होगी।

प्रकृति को भौतिक समझकर उसकी पदार्थ सत्ता स्तर पर अब तक की माथा पच्ची होती रही है। अब उस ब्रह्माण्ड में चेतना का समुद्र भरा पूरा अनुभव किया जा सके और उसी क्षेत्र के मणि मुक्तक ढूँढ़ने में लग पड़ा जाय तो विश्व वैभव में निश्चय ही आश्चर्यजनक प्रगति हो सकती है।

अपनी पृथ्वी इस विशाल ब्रह्माण्ड परिवार का एक छोटा सा घटक है। उसे जो भी प्रत्यक्ष परोक्ष वैभव मिला हुआ है वह ब्रह्माण्डीय संपदा का एक अंग है। पृथ्वी उत्तरी ध्रुव के माध्यम से उसमें से उपयोगी अंश खींचती और जो अनुपयोगी है उसे

दक्षिणी ध्रुव से बाहर फेंक देती है। यह प्रकृतिगत आकर्षण, विकर्षण मानवी चेतना के एकाकी एवं संयुक्त चुम्बकत्वों द्वारा सामयिक आवश्यकता के अनुरूप खींचा एवं रोका जा सकता है। अन्तर्ग्रही कारणों से पृथ्वी पर अनेकों विपत्तियाँ आती हैं। इन्हें रोकने एवं अनुकूलताओं को बढ़ाने के लिए चेतनात्मक प्रयोग उपचार हो सकते हैं। इस क्षमता को भी पूर्व काल की तरह इन दिनों अध्यात्म एवं विज्ञान के सिद्धान्तों का समन्वय करके सहज ही उपलब्ध किया जा सकता है।

योग साधनाओं का ज्ञान-विज्ञान इन दोनों के समन्वय पर ही आधारित है। इस तत्त्व दर्शन को भली-भाँति हृदयंगम करने वाले उन सभी उपलब्धियों से लाभान्वित हो सकते हैं जिनकी प्रशस्ति धर्मशास्त्रों में की गयी है।



अध्यात्म अनुशासनों का मूलभूत प्रयोजन समझें

विद्वान बनने के लिए विद्यार्थी अध्ययन करते हैं। पहलवान बनने के लिए व्यायाम किया जाता है। किसान इसलिए जोतने, बोने, सींचने में लगा रहता है कि समयानुसार फसल कटेगी और कोठे भरेंगे। व्यवसायी, शिल्पी कलाकार आदि सभी वर्ग के लोग कुछ लाभदायक उद्देश्य सामने रखकर प्रयत्नरत होते हैं। उपलब्धियों की ललक ही उन्हें प्रेरणा देती है और तत्परता-तन्मयता जुटाये रह सकने वाली मनःस्थिति बनती है।

लक्ष्य और प्रयास में संगति होनी चाहिए। कार्य और कारण का तारतम्य बैठना चाहिए। भ्रम हो जाने से प्रयास निरर्थक चले जाते हैं और परिश्रम करने वाले को निराशा खीझ और थकान पल्ले पड़ती है। ऐसी स्थिति में लक्ष्य या प्रयास की गरिमा उपयोगिता पर से विश्वास उठने लगता है। आवश्यक है कि किसी कार्य में हाथ डालने से पूर्व यह देख लिया जाय कि जो चाहा गया है, उसके लिए यह मार्ग है भी, या नहीं, यह मार्ग जहाँ पहुँचता है वहाँ हमें जाना है या नहीं। यदि लक्ष्य और प्रयत्न के बीच विसंगति रह रही होगी तो सफलता की संभावना नहीं रहती। भ्रम ग्रस्त मनःस्थिति में अपनाया गया उत्साह अंततः अनास्था में बदलता है। इसलिये विज्ञजन यही परामर्श देते रहे हैं कि कार्य और कारण की, लक्ष्य और प्रयास की संगति बिठाते हुए प्रयत्नरत् हुआ जाय। भ्रान्तियों और भावुकता से ग्रस्त न रहा जाय। वस्तु स्थिति को समझे बिना अपनाई गई उतावली अंततः साहस ही तोड़ देती है। अध्यात्म-क्षेत्र में प्रवेश करते समय इस प्रकार की भ्रान्तियों से निपट लेना आवश्यक है।

अध्यात्म प्रयोजनों से भौतिक लाभ उपलब्ध होने की बात कही जाती रही है, और इस प्रकार के माहात्म्य बताये जाते रहे

हैं, उनमें प्रायः आदि और अंत का वर्णन दीख पड़ता है। मध्यवर्ती प्रयासों का विस्तृत उल्लेख कदाचित् इसलिए नहीं किया गया है कि जिन दिनों शास्त्र रचे गये अथवा आप्त वचन कहे गये, उन दिनों सर्वसाधारण का चिन्तन और चरित्र उच्चस्तरीय था। यह कहने की आवश्यकता नहीं समझी गई कि इस क्षेत्र के प्रवेशकर्त्ताओं का व्यक्तित्व की दृष्टि से पवित्र एवं प्रखर होना आवश्यक है। इस आरम्भिक शर्त से उन दिनों सभी परिचित थे, अस्तु उसकी चर्चा विस्तारपूर्वक करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी और आदि तथा अंत बताते हुए यह अनुमान लगा लिया गया कि मध्यवर्ती प्रक्रिया तो सर्वविदित है, उसे तो लोग—सामान्य बुद्धि से ही समझ रहे होंगे फिर किसी को पीसने से क्या लाभ ?

बन्दूक का घोड़ा दबाने और लक्ष्य बेधने का आदेश ही कप्तान देते हैं। वे जानते हैं, कि इस प्रयोजन के लिए सिपाही, कारतूस को बन्दूक में भरने की आवश्यकता से अवगत होंगे ही। इसमें भूल होने की आदेश देने वाले को आशंका नहीं रहती। कोई सिपाही कारतूस भरे बिना ही घोड़ा दबा दे और निशाने पर गोली न लगने पर लक्ष्य, बन्दूक कप्तान आदि को दोष देने लगे तो उसका आक्रोश निरर्थक माना जायेगा और कहा जायेगा, कि नली में कारतूस डालने का सामान्य ज्ञान क्यों भुला दिया जाय ?

औषधि खाने और रोग अच्छा होने की ही आमतौर से चर्चा होती रहती है, निदान, पथ्य, परिचर्या, मात्रा, अनुपान आदि का उस संबंध में विस्तृत विवेचन नहीं किया जाता। क्योंकि हर कोई जानता है कि इलाज कराना है, तो यह बात तो ध्यान में रखनी ही होती है उनको तो हर हालत में अपनाना ही होता है।

डॉक्टर बनने के लिए मेडीकल कॉलेज में प्रवेश, इन्जीनियर बनने के लिए इन्जीनियरिंग कॉलेज में भर्ती के लिए दौड़-धूप होती है। अभिभावक और विद्यार्थी यह जानते हैं कि डॉक्टर या इन्जीनियर बनने पर धन, यश, पद आदि की दृष्टि

से सन्तोषजनक स्थिति प्राप्त होती है। कॉलेज में दाखिला मिलने पर सदा ध्यान केन्द्रित रहता है। दौड़ धूप होती है और प्रवेश मिलने पर सन्तोष की साँस ली जाती है। उत्साह से आँखें चमकने लगती हैं इस माहौल में कोई यह प्रसंग नहीं उभारता कि पाँच वर्ष तक मनोयोगपूर्वक पढ़ना पड़ेगा, फीस, पुस्तकें, बोर्डिंग खर्च आदि का प्रबन्ध भी करना होगा। सभी जानते हैं कि यह तो अनिवार्य ही है। सभी करते हैं। इसके बिना तो लक्ष्य पूर्ति का आधार खड़ा ही नहीं होता। सामान्य ज्ञान को भी अकारण दुहराने और समय नष्ट करने की आमतौर से आवश्यकता नहीं पड़ती। कोई सर्वथा अनजान हो तो बात दूसरी है।

उपयुक्त जोड़ी, विवाह निर्धारण और सुखी गृहस्थ जीवन की संगति बिठाते हुए प्रयोजनकर्त्ता प्रसन्न होते हैं। इसकी मध्यवर्ती एक शर्त भी है कि वर-वधू अपने-अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का नियमित रूप से पालन करते रहें। इसकी उपेक्षा कर तो चयन-निर्धारण कितना ही उपयुक्त क्यों न हो, विवाह सफल नहीं हो सकता और सुखी गृहस्थ की आशा नहीं बँधती। फिर भी विवाह निर्धारण के लिए दौड़-धूप करते समय उपयुक्त चयन ही पर्याप्त मान लिया जाता है। इसकी चर्चा नहीं होती कि वे दोनों किस प्रकार गृहस्थ की गाड़ी चलावेंगे। सभी जानते हैं कि वर-वधू इतना तो स्वयं ही समझते होंगे न समझते होंगे तो परिवार वाले समझा लेंगे। यह सर्वविदित तथ्य है कि गृहस्थ की सफलता विवाह-संस्कार पर नहीं, जोड़ी के कर्त्तव्य पालन पर निर्भर है, पर उस प्रसंग को उस निर्धारण में तूल नहीं दिया जाय। सामान्य ज्ञान की बातों का दन्तवक्कड़ कौन बनाता है ?

उपरोक्त उदाहरण इसलिए दिये गये हैं कि अध्यात्म-क्षेत्र की साधनाओं का स्वरूप और उनका सिद्धि-प्रतिफल बताते समय भी आदि और अंत का ही वर्णन किया जाता रहा है। इसकी बहुत अधिक चर्चा नहीं की गयी कि हर साधक को

उत्कृष्ट चिन्तन, आदर्श चरित्र और उदात्त व्यवहार अपनाने की शर्त पूरी करने पर ही साधक कहलाने का अधिकार मिलता है। ओछा और घिनौना व्यक्तित्व बनाये रखकर कोई मात्र पूजा-पाठ के, तन्त्र-मन्त्र के सहारे उन सफलताओं को प्राप्त नहीं कर सकता, जो माहात्म्य-प्रतिपादन में बतायी गयी है।

योग-साधना का प्रथम सोपान "यम और नियम" है, जिनका तात्पर्य है—जीवनचर्या में सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों का समुचित समावेश। भक्ति-साधना में 'नामापराध' का निर्धारण है। नाम तो जपा जाय, पर चरित्र दोषों से लिप्त रहा जाय, तो उस पर भगवान का नाम बदनाम करने का अपराध लगेगा और छद्म करने का दण्ड सहना पड़ेगा। भक्ति-भावना का सत्परिणाम मिलना तो दूर, उल्टा भगवान के क्रोध का भागी बनना पड़ेगा। साधनात्मक कर्मकाण्डों की फल श्रुतियों को सुनाते-समझाते समय इस तथ्य के प्रतिपादनकर्त्ताओं को इतना तो ध्यान रखना ही होगा कि उसे इस प्रयास में दृष्टिकोण में उत्कृष्टता और व्यवहार में आदर्शवादिता का उच्चस्तरीय समावेश करना है। इसकी उपेक्षा करने पर तो शेख चिल्ली की तरह उपहासास्पद बनना पड़ेगा। वह बेचारा यह तो भूल करता रहा कि आदि और अन्त की बात सोची, मध्यवर्ती क्रिया-प्रक्रिया की उपेक्षा करके रंगीन सपने देखने लगा। यह भूल वे लोग करते हैं जो मन्त्र-जप मात्र से संपदाओं विभूतियों से घर भर लेने के दिवास्वप्न देखते रहते हैं। सिर और पैर ही सब कुछ नहीं है, मध्यवर्ती धड़ की भी उपयोगिता और महत्ता है। इस तथ्य से हर किसी को अवगत होना चाहिए। साधना और सिद्धि के मध्य में चिन्तन और चरित्र की उत्कृष्टता, संयम और सेवा की जीवन-साधना अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

भूल यह होती रही है कि विकृत भ्रम ग्रस्तता द्वारा यह समझा या समझाया गया कि देवी-देवता पूजा-पाठ के भूखे बैठे रहते हैं और उतना-सा लालच दिखाकर उन्हें कुछ भी कराने के लिए वशवर्ती किया जा सकता है। उपासना को जादूगरी

बाजीगरी के समतुल्य ठहराया गया और सोचा गया कि उससे कौतुक-कौतूहल देखने-दिखाने वाले दृश्य सामने दौड़ने लगते हैं। मनोकामना सिद्धि के लिए यह सस्ते नुस्खे बाल-बुद्धि को बहुत सुहाये। बिना पात्रता और परिश्रम के ऐसे ही हाथों की हेरा-फेरी, जीभ में कुछ कहते रहने भर से ऋद्धि-सिद्धियाँ छप्पर फाड़कर घर में कूदेंगी। ऐसे ही कुछ अनगढ़ सपने तथाकथित साधकों के सिर पर छाये रहते हैं।

इन्हें सच मानने में मनुष्य की वह मनोवैज्ञानिक दुर्बलता सहायता करती है, जिसके अनुसार वह कम परिश्रम में अधिक लाभ कमाने की विडम्बनाएँ रचता रहता है और इस चिन्तन को परिपुष्ट करते-करते दुरभि-सन्धियाँ-दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। जुआ, सट्टा, लाटरी, गड़ा खजाना आदि की ललक इसी आधार पर उभरती है। उत्तराधिकार में दान-दहेज में विपुल धन मिलने की लिप्सा भी इसी कारण प्रचण्ड बनती और लूट-खसोट को अधिकार मानती, उसके लिए हठ करती देखी गयी है। एक कदम और आगे बढ़ने पर मनुष्य छल-प्रपंच रचता या अपराध—आक्रमण पर उतारू होता है। मुफ्तखोरी अनैतिकता—अवांछनीयता की जन्मदात्री है। वह जिस कारण भी पनपे, उस पूरे परिकर की निन्दा की जानी चाहिए। योग्यता और श्रमशीलता के आधार पर उचित उपार्जन की ही प्रशंसा होती है। इसके अतिरिक्त जो भी मार्ग रह जाते हैं वे सभी अनुचित एवं अहितकर हैं। उन्हें अपनाने से व्यक्ति और समाज की हर प्रकार हानि ही हानि है।

इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि जिस तत्त्वज्ञान की संरचना, जिस साधना-विधान की निर्धारणा, मात्र व्यक्तित्व में पवित्रता और प्रखरता का अनुपात बढ़ाने के लिए हुई थी, उसका आधार ही उल्टा जा रहा है। वह बिना मूल्य चुकाये, जिस-तिस प्रकार संपदाएँ-सफलताएँ बटोरने के लिए व्यक्ति को प्रोत्साहित करता है। जबकि इससे ठीक उल्टा होना चाहिए था। अध्यात्मवादी को अपरिग्रही, स्वल्प और सन्तोष एवं औसत

भारतीय स्तर का निर्वाह अपनाने वाला होना चाहिए था। औचित्य का पक्षधर एवं न्याय नीति का समर्थन करना चाहिए। मनोकामना सिद्धि का तात्पर्य एक ही है—योग्यता और श्रमशीलता की मर्यादाओं को छलांग कर तुर्त-फुर्त, नैतिक या अनैतिक उपाय से मनचाही सुविधाएँ हस्तगत कर लेना। जहाँ भी ऐसी प्रवृत्ति उभरती हो, समझना चाहिए कि नीतिमत्ता पर कुठाराघात हुआ और साथ ही अध्यात्म तत्त्वज्ञान के आधार पर समाप्त कर देने वाला कुचक्र चल पड़ा।

भगवान, सिद्धिपुरुष, धर्मानुष्ठान, साधना-विज्ञान सभी इस मर्यादा में बँधे हैं कि न्याय एवं औचित्य का निर्वाह होता रहे। सत्प्रवृत्तियों को, उच्चस्तरीय निर्धारणों को मान्यता मिलती रहे। उनकी प्रतिष्ठा दिन-दिन गहरी बनती चले। इसके विपरीत यदि वह समुदाय तनिक-तनिक से प्रलोभनों से, मनुहारों से प्रभावित होकर तथाकथित भक्तजनों के साथ पक्षपात बरतने लगे तो समझना चाहिए, औचित्य के आदर्श का अंत होने जा रहा है। भगवान भी यदि ऐसा करेंगे, सिद्ध पुरुष भी यदि इतने ओछे सिद्ध होंगे तो फिर न्याय-नीति की रक्षा कौन करेगा ? औचित्य को संरक्षण कहाँ मिलेगा ? यदि रिश्वत और चापलूसी भगवान को भी वशवर्ती कर सकती है—न्याय की, पात्रता की उपेक्षा करके यदि व्यक्तिगत कृत-अकृत का सिलसिला चल पड़े तो फिर सामान्य लोगों को रिश्वत, खुशामद, भाई-भतीजावाद, पक्षाघात जैसे अमान्य आधारों से विरत करने की बात कैसे बनेगी।

सामान्य निर्धारण है उचित मूल्य चुकाकर उचित उपलब्धियाँ प्राप्त करना। यदि आधार उच्चस्तरीय सत्ताओं ने ही निरस्त कर दिया और भक्तजनों को उसकी छूट दे दी तो फिर समझना चाहिए कि औचित्य के आधार पर कुछ पाने की कष्टसाध्य प्रक्रिया कोई क्यों अपनाता रहता है। तब तपस्या की, संयम पराक्रम की शोधन-परिष्कार की, कष्टसाध्य प्रक्रिया अपनाने की कोई उपयोगिता-आवश्यकता ही न रहेगी। सभी 'शार्ट-कट' ढूँढ़ेंगे। इसकी प्रतिक्रिया का प्रत्यक्ष स्वरूप होगा

औचित्य के प्रचलन और अनुशासन का समापन। यदि यह क्रम चल पड़ा तो समझना चाहिए कि पूजा-पाठ और अनौचित्य का ठाठ-बाट यही दो इस संसार में शेष रहेंगे। उस आधार का समापन हो जायेगा, जिसके लिए धर्म-अध्यात्म की, भक्त और भगवान की, आवश्यकता अनुभव की गयी है।

संकट में एक-दूसरे की सहायता करना—उठाने और बढ़ाने में सहायता करना मानवी गरिमा का एक पक्ष है। उसे यथावत् चलना चाहिए। जिनके पास आत्मबल की सम्पदा है, वे उसे सहायता के लिए भी प्रयुक्त करते हैं, पर साथ ही औचित्य का भी ध्यान रखते हैं। जिस-तिस की उचित-अनुचित मनोकामनाओं की पूर्ति में सस्ती वाहवाही के बदले, उसे खर्च करने लगें तो समझना चाहिए कि 'सिद्ध पुरुष' कहलाने की अध्यात्म गरिमा से वे लोग बहुत नीचे आ गये। दाता और याचक के बीच में औचित्य की कसौटी रहती है। उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। तथाकथित भक्तजन और सिद्ध पुरुष मिलकर भी ऐसे भ्रष्टाचार को मान्यता नहीं दिला सकते। विश्व-व्यवस्था के कुछ मूलभूत सिद्धान्त हैं और उसमें उचित मूल्य चुकाकर उपलब्धियाँ प्राप्त करने की भी एक परम्परा है। सस्ते मोल, महँगे साधन समेट लेना विश्व-व्यवस्था से सर्वथा बाहर की बात है।

सांसारिक सम्पदाओं का सीधा-सादा-सा उपाय-उपचार है—योग्यता की वृद्धि समग्र श्रमशीलता, व्यावहारिक शालीनता एवं सुव्यवस्था—इन आधारों को अपनाकर ही व्यक्तियों और समाजों ने प्रगति के उच्च शिखर तक पहुँचने में सफलताएँ पायी हैं।

अध्यात्म-विज्ञान के विद्यार्थियों को यह तथ्य गिरह बाँध लेना चाहिए कि यह क्षेत्र चिन्तन एवं चरित्र में उत्कृष्टता का समावेश करने तथा व्यक्तित्व में पवित्रता-प्रखरता भर देने की सुव्यवस्था का है। इस दिशा में जो जितना आगे बढ़ता है उसकी पात्रता-प्रामाणिकता का स्तर उतना ऊँचा उठता जाता है,

फलतः आत्मबल के रूप में साहस, संकल्प एवं पुरुषार्थ के सत्प्रयोजनों में तत्परतापूर्वक निरत देखा जाता है। सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों से व्यक्तित्व भरा-पूरा दीखता है। जहाँ ऐसी स्थिति होगी वहाँ आत्मिक ही नहीं, भौतिक सम्पदाओं की भी कमी न रहेगी। जिसे आत्मविश्वास उपलब्ध है, जिसने जन-सम्मान और जन-सहयोग अर्जित कर लिया उसके लिए भौतिक सफलताएँ एवं सम्पन्नताएँ प्राप्त कर लेने में तनिक भी कठिनाई नहीं रहती। हाँ, साथ ही इतना भी आवश्यक होता है कि अध्यात्मवादी साधनारत व्यक्ति वैभव का उपभोग नहीं करता। उपार्जन कितना ही क्यों न करले, उसमें से औसत नागरिकों जैसा ही निर्वाह स्वीकार करता है। शेष को उदारतापूर्वक उस लोकमंगल के लिए हाथों-हाथ वापिस कर देता है, जिसके कंधों पर सार्वजनीन सुख-शान्ति का आधार टिका हुआ है।



मानवी काया का सूक्ष्म विश्लेषण एवं उसका योग द्वारा सुनियोजन

वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रगति कर अपने सुख-सुविधाओं के सामान एकत्र कर लेना और उन्हें सुनियोजित ढंग से प्रयुक्त कर अपनी जीवनयापन की पद्धति को ऊँचा उठा लेना मानवी पुरुषार्थ का ही कमाल है। उसने प्रकृति के रहस्यों को अपनी पैनी बुद्धि से खोजा और उनका उपयोग करने की विधा विकसित की, उसके लिए गत शताब्दियों के वैज्ञानिक उद्‌भव को श्रेय दिया जा सकता है। पर यही सब कुछ नहीं है। आत्मिकी के अनुशासन के अभाव में तो भौतिकी के उच्छृंखल होने के अवसर बढ़ जाते हैं। आत्मिकी अर्थात् आध्यात्म के सिद्धान्तों के सुख-सुविधाओं के सुनियोजित उपयोग हेतु परिपालन। यह परिधि इतनी विशाल है कि व्यक्ति से लेकर विश्व परिवार के प्रत्येक घटक को अपने अन्दर समाहित कर लेती है।

अध्यात्म मनुष्य को जीवन जीने की कला का शिक्षण देता है। मानवी काया के समस्त यंत्रों तथा उपार्जित वैभव रूपी पुरुषार्थजन्य अनुदानों का दुरुपयोग किन परिस्थितियों को जन्म दे सकता है इसका समग्र स्वरूप आत्मिकी की शिक्षाओं में देखने को मिल सकता है आध्यात्म बताता है कि मनुष्य अपने उच्चस्तर से अपनी दुर्बलताओं के कारण ही अधःपतित होता है और दुःख, क्लेश भरा नरक भोगता है। मनुष्य को इस विश्व के साथ सम्पर्क बनाकर सुखानुभूति प्राप्त करने को तीन उपकरण मिले हुए हैं। यदि वह उनका ठीक तरह उपयोग जान सके तो उसे पग-पग पर यह अनुभव हो कि यंह संसार कितना सुन्दर और जीवन कितना मधुर है। इन तीन उपकरणों के नाम हैं— (१) अंतरात्मा, (२) मन, (३) इन्द्रिय समूह।

इन्द्रियों की बनावट ऐसी अद्‍भुत है कि दैनिक जीवन की सामान्य प्रक्रिया में ही उन्हें पग-पग पर असाधारण सरलता अनुभव होती है। पेट भरने के लिए भोजन करना स्वाभाविक है। भगवान की कैसी महिमा है कि उसने दैनिक जीवन की शरीर यात्रा भर की नितांत स्वाभाविक प्रक्रिया को कितना सरस बना दिया है। उपयुक्त भोजन करते हुए जीव को कितना रस मिलता है और चित्त को उस अनुभूति से कैसी प्रसन्नता होती है।

आँख का साधारण काम है वस्तुओं को देखना ताकि हमारी जीवन यात्रा ठीक तरह चलती रह सके। पर आँखों में कितनी विचित्र विशेषता भर दी है कि वह रूप, सौन्दर्य, कौतुक जैसी रस भरी अनुभूतियाँ ग्रहण करके चित्त को प्रफुल्लित बनाती है। संसार में उत्पादन, परिपुष्टि, विनाश का क्रम नितांत स्वाभाविक है। मध्यवर्ती स्थिति में हर चीज तरुण और सुन्दर लगती है। क्या पुष्प क्या मनुष्य हर किसी को तीनों स्थितियों में होकर गुजरना पड़ता है, मध्यकाल सुन्दर लगता है। वस्तुतः यह तीनों ही स्थितियाँ अपने क्रम, अपने स्थान और अपने समय पर सुन्दर हैं। पर आँखों को सुन्दर असुन्दर का भेद करके मध्य स्थिति को सुन्दर समझने की कुछ विचित्र विशेषता मिली है। फलस्वरूप जो कुछ उभरता हुआ विकसित परिपुष्ट दीखता है सो सुन्दर लगता है। सुन्दर असुन्दर का तात्त्विक दृष्टि से यहाँ कुछ भी अस्तित्व नहीं है पर हमारी विचित्र आँखें ही हैं जो अपनी सौन्दर्यानुभूति बाल विशेषता के कारण हमारे दैनिक जीवन से संबंधित समीपवर्ती वस्तुओं में से सौन्दर्य वाला भाग देखती, आनन्द अनुभव करतीं, उल्लसित और पुलकित होती हैं। चित्त को प्रसन्न करती हैं।

इसी प्रकार जननेन्द्रिय की प्रक्रिया है। प्रजनन मक्खी, मच्छरों, कीट पतंगों, बीज अंकुरों में भी चलता रहता है। यह सृष्टि का सरल स्वाभाविक क्रम है पर हमारी जननेन्द्रिय में कैसा अजीव उल्लास सरावोर कर दिया है कि संभोग के क्षण ही नहीं—उसकी कल्पना भी मन के कोने-कोने में सिहरन

पुलकन, उमंग और आतुरता भर देती है। तत्त्वतः बात कुछ भी नहीं है। दो शरीर के दो अवयवों का स्पर्श—इसमें क्या अनोखापन ? क्या निरालापन है ? क्या उपलब्धि है ? फिर स्पर्श का कुछ प्रभाव हो भी तो उसकी कल्पना से किस प्रकार, क्यों किस लिए चित्त को बेचैन करने वाली ललक पैदा होनी चाहिए ? बात कुछ भी नहीं है। जननेन्द्रिय की बनावट में एक अजीब प्रकार की सरलता का समावेश मात्र है जो हमें सामान्य स्वाभाविक दाम्पत्य-जीवन के वास्तविक या काल्पनिक प्रत्यक्ष और परोक्ष—क्षेत्र में एक विचित्र प्रकार की रसानुभूति उत्पन्न करके—जीने भर के लिए प्रयुक्त हो सकने वाले जीवन को निरन्तर उमंगों से भरता रहता है।

ऊपर जीभ आँख की और जननेद्रिय की चर्चा हुई, कान और नाक के बारे में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। यहाँ कान भाग वाला इन्द्रिय समूह अपने साथ रसानुभूति की विलक्षणता इसलिए धारण किये हुए है कि सरस, स्वाभाविक सामान्य जीवन क्रम ऐसे ही नीरस ढर्रे का जीने भर के लिए मिला हुआ प्रतीत न हो वरन् उसमें हर घड़ी उत्साह, उल्लास, रस, आनंद बना रहे और उसे उपलब्ध करते रहने के लिए जीवन की उपयोगिता, सार्थकता और सरलता का भान होता रहे। इन्द्रिय समूह हमें इसी प्रयोजन के लिए उपलब्ध है। यदि उनका उचित, संयमित, विवेकपूर्ण, व्यवस्था पूर्वक उपयोग किया जा सके तो हमारा भौतिक सांसारिक जीवन पग-पग पर सरसता, आनंद उपलब्ध करता रह सकता।

दूसरा उपकरण मन इसलिए मिला है कि संसार में जो कुछ चेतन है उसके साथ अपनी चेतना का स्पर्श करके और भी ऊँचे स्तर की आनन्दानुभूति प्राप्त करे। इन्द्रियाँ जड़ शरीर से संबंधित हैं वे जड़ पदार्थों का स्पर्श करके उस संसर्ग का सुख लूटती हैं। जड़ का जड़ से स्पर्श भी कितना सुखद हो सकता है। इस विचित्रता का अनुभव हमें इन्द्रियों के माध्यम से होता है। चेतन का चेतन के साथ, जीवधारी का जीवधारी के

साथ स्पर्श—सम्पर्क होने से मित्रता, ममता, मोह, स्नेह, सद्भाव, घनिष्ठता, दया, करुणा, मुदिता जैसी अनुभूतियाँ होती हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों में द्वेष, घृणा जैसे भाव भी पैदा होते हैं पर उसका अस्तित्व है इसीलिए कि मित्रता के वातावरण में संपर्क, संसर्ग का आनंद बिखरता रहे, यदि अन्धकार न हो तो प्रकाश की विशेषता ही नष्ट हो जाय। वस्तुतः मन की बनावट दूसरों के संपर्क सहयोग, स्नेह भावों के आदान-प्रदान का सुख प्राप्त करने में है। मेलों-ठेलों में सभा सम्मेलनों में जाने की इच्छा इसीलिए उठती है कि उन जन संकुल स्थानों से व्यक्ति की घनिष्ठता न सही समीपता का अदृश्य सुख तो अनायास मिलता ही है।

चूँकि इन्द्रिय सुख और मन सम्पर्क की घनिष्ठता में सहायक एक और नया माध्यम सभ्यता के विकास के साथ-साथ बनकर खड़ा हो गया है इसलिए अब प्रिय वह भी लगने लगा है—इस तीसरे मनुष्य कृत-आकर्षण तत्त्व का नाम है—धन, धन में स्वभावतः कोई आकर्षण नहीं। इसमें इन्द्रिय समूह या मन को पुलकित करने वाली कोई सीधी क्षमता नहीं है। धातु के सिक्के या कागज के टुकड़े भला आदमी के लिए प्रत्यक्षतः क्यों आकर्षक हो सकते हैं। पर चूँकि वर्तमान समाज व्यवस्था के अनुसार धन के द्वारा इन्द्रिय सुख के साधन प्राप्त होतें हैं। मैत्री भी संभव होती हैं। इसलिए धन भी प्रकारान्तर रूप से मन का प्रिय विषय बन गया। अस्तु धन की गणना भी सुखदायक माध्यमों से जोड़ ली गई है।

तीन शरीरों को जीवात्मा धारण किये हुए है। तीनों की तीन रसानुभूतियाँ हैं। ऊपर दो की चर्चा हो चुकी। स्थूल शरीर की सरलता-इन्द्रिय समूह के साथ जुड़ी हुई है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन जैसे सुख इन्द्रियों द्वारा ही मिलते हैं। सूक्ष्म शरीर का प्रतीक मन है। मन की सरलता मैत्री—जन सम्पर्क पर अवलम्बित है। परिवार मोह से लेकर समाज संबंध, नेतृत्व, सम्मेलन, उत्सव आयोजन जैसे सम्पर्क परक अवसर मन को सुख देते हैं। घटित होने वाली घटनाओं को अपने ऊपर घटित

होने की सूक्ष्म संवेदना उत्पन्न करके वह समाज की अनेक हलचलों से भी अपने को बाँध लेता है और उन घटना क्रमों में खट्टी-मीठी अनुभूतियाँ उपलब्ध करता है। उपन्यास, सिनेमा, अखबार, रेडियो आदि मन को इसी आधार पर आकर्षित करते और प्रिय लगते हैं।

तीसरा रसानुभूति उपकरण है—अंतरात्मा। उसका कार्य क्षेत्र ' कारण शरीर' है। उसमें उत्कृष्टता उत्कर्ष, प्रगति, गौरव की प्रवृत्ति रहती है जो उच्च भावनाओं के माध्यम से चरितार्थ होती है। मनुष्यता की श्रेष्ठता और सन्मार्ग गामिला प्रखर होती रहे इसके लिए उसमें भी एक रसानुभूति विद्यमान है—उसका नाम है वर्चस्व, यश, कामना, नेतृत्व गौरव प्रदर्शन। उस आकांक्षा से प्रेरित होकर मनुष्य अगणित प्रकार की सफलतायें प्राप्त करता है ताकि वह स्वयं दूसरों की तुलना में अपने आपको श्रेष्ठ, पुरुषार्थी, पराक्रमी, बुद्धिमान अनुभव करके सुख प्राप्त करे और दूसरे लोग भी उसकी विशेषताओं, विभूतियों से प्रभावित होकर उसे यश, मान प्रदान करें।

कारण शरीर के साथ एक तथ्य यह और जुड़ा है कि यदि इसे सही दिशा न मिले और विकृति की ओर मुड़ जाय तो अहंता, बड़प्पन की ललक, उदण्डता के रूप में इसकी परिणति हो सकती है। श्रेष्ठता सहज है—मानवी गरिमा के अनुरूप है परन्तु जन्म-जन्मान्तरों के कुसंस्कार जो मनुष्य के पल्ले बँधे रहते हैं। सतत् संघर्ष हेतु उसे उत्तेजित करते हैं। उनके सामने माथा टेक देने वाले आत्मिक दृष्टि से उन्नति नहीं कर पाते, भ्रम में उलझकर अपनी दुर्गति और करा लेते हैं। कारण शरीर रसमय संवेदना का समुच्चय काया का एक अमूल्य उपकरण है। इसका सुनियोजन कर व्यक्ति देश भक्त, सुधारक, परमार्थ परायण, विभूतिवान बनता है। सत्प्रवृत्तियों के साथ सम्मान एवं यश तो सहज ही जुड़ा रहता है। ऐसे व्यक्ति छोटे-छोटे आकर्षणों एवं चाटुकारों की निन्दा प्रशंसा से प्रभावित न होकर स्वयं को सन्मार्ग गामी बनाये रखते हैं।

जब भी कभी प्रयत्न पुरुषार्थ के साथ उच्चस्तरीय प्रयोजन जुड़ जाते हैं तो यही कारण शरीर कलाकारिता साहित्य, समाज सेवा, राष्ट्रभक्ति, दलितोत्थान, वैज्ञानिक शोध जैसे क्षेत्रों में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ पद पर पहुँचा कर रहता है। अभी तक हुए महामानवों ने इसी स्तर की साधना की है व दैवी अनुग्रह उन पर लोक सम्मान और जन सहयोग के रूप में बरसा है। यश न पचाने वालों ने अब तक विश्व में सारी दुरभि सन्धियाँ रची हैं। सारे षड्यंत्रों कलह द्वेष के मूल में अहं की विकृति ही मुख्य भूमिका निभाती है। इन सभी में वे सभी विशेषताएँ विद्यमान थीं जो उन्हें ऋषि, देवदूत स्तर तक पहुँचा सकती थी। लेकिन जीवन का एक भटकाव, शरीर के इस उपकरण का विकृत मोड़ मनुष्य को उस श्रेष्ठता से वंचित कर देता है जिसका कि वह श्रेयाधिकारी आसानी से बन सकता था। मानव का यह विश्लेषण उस स्तर तक करना इस कारण अभीष्ट भी है कि अगणित व्यक्ति अपने जीवन प्रवाह के हिचकोलों के मूल कारण को समझ नहीं पाते।

संक्षेप में यह मनुष्य के तीन शरीरों की—तीन रसानुभूतियों की चर्चा हुई। हमारी अगणित योजनायें इच्छा, आकांक्षायें-गतिविधियाँ इन्हीं तीन मूल प्रवृत्तियों के इर्द-गिर्द घूमती हैं। जो कुछ मनुष्य सोचता और करता है उसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। भगवान ने यह तीन उपहार जीवन को सरसता से भरा पूरा रखने के लिए दिये हैं। साथ ही उनका अस्तित्व इसलिए भी है कि व्यक्ति निरन्तर सक्रिय बना रहे। इस सुखानुभूतियों को प्राप्त करने के लिए उसके तीनों शरीर निरन्तर जुटे रहें।



योग के भावार्थ को हृदयंगम करें

योग का सामान्य अर्थ होता है—जोड़ना। आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ देने की प्रक्रिया अध्यात्म भाषा में 'योग' कहलाती है। इसे आरंभ करने के लिए जिन क्रिया-कलापों को अपनाना पड़ता उन्हें 'साधना' कहते हैं। साधना अपने आप में एक छोटा उपकरण मात्र है। उसका महत्त्व इसलिए है कि वह 'साध्य' को प्राप्त कराने में सहायता करती है। कई लोग साधन को ही 'साध्य समझ बैठते हैं और उन उपचारों को ही योग कहने लगते हैं जो साधना प्रयोजन में प्रयुक्त होते हैं।

योग-साधना में कई प्रकार के शारीरिक, मानसिक क्रिया-कृत्य अपनाने पड़ते हैं। इनका उद्देश्य आत्म-चेतना को परमात्म-चेतना से जोड़ने वाली मनःस्थिति उत्पन्न करना है। यह ध्यान में रखकर चला जाय तो ही लक्ष्य की पूर्ति होनी संभव है। यदि चेतनात्मक परिष्कार के लिए प्रयत्न न किया जाये और मात्र उन क्रिया-कृत्यों को ही योगाभ्यास मान लिया जाये तो उस भ्रान्ति के कारण घोर परिश्रम करते रहने पर भी कोल्हू के बैल की तरह जहाँ के तहाँ बने रहना पड़ेगा।

शारीरिक श्रम में आसन, प्राणायाम, बन्ध मुद्रा, व्रत, मौन, नेति, धौति, वस्ति, न्यौलि, वज्रौली, कपालभाति भूमिशयन, सर्दी-गर्मी सहना, कीर्तन आदि कितने ही उपचार काम में लाये जाते हैं, इनका उद्देश्य स्वस्थता, समर्थता एवं पवित्रता उत्पन्न करना है ताकि मल-भारों से लदे व्यक्ति को आत्मिक प्रगति की मंजिल पार करने में सुविधा हो। इसी प्रकार मानसिक उपासनाओं में—जप, ध्यान, नाद, एकाग्रता, तन्मयता, स्वाध्याय, सत्संग आदि साधनों का आश्रय लिया जाता है ताकि चेतना को दिशा एवं प्रेरणा दी जा सके और अपनी जीव समीपता को ब्रह्म असीमता में घुला देने के लिए आवश्यक प्रकाश एवं प्रशिक्षण मिल सके।

लक्ष्य विहीन साधना मनोरंजक भटकाव ही कहा जा सकता है। शारीरिक और मानसिक क्रिया-कृत्यों को योगाभ्यास के आधार मानना ही पर्याप्त है। उन कृत्यों को ही जादुई मान बैठना और उनकी प्रवीणता मिल जाने मात्र से लक्ष्य पूरा हो जाना मान लिया जायेगा तो यह विशुद्ध भ्रान्ति ही सिद्ध होगी। एक व्यक्ति दूसरे तक अपने मनोभाव पहुँचाने के लिए कागज कलम का प्रयोग करता है। यह उपकरण निश्चय ही बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनके बिना विचारों का आदान-प्रदान करने में बड़ी कठिनाई पड़ेगी। फिर भी यह मात्र कागज, कलम से पत्राचार का उद्देश्य पूरा नहीं होता। उसमें भावों की अभिव्यक्ति का तथ्य भी जुड़ा रहना चाहिए। यदि ऐसे ही कागज पर कलम घिसते रहा जाये और कुछ भी टेढ़ी-सीधी लकीरें बनाई जाती रहें तो उससे पत्र-व्यवहार द्वारा विचारों के आदान-प्रदान का उद्देश्य पूरा न हो सकेगा। लेखन क्रिया के साथ भावों की अभिव्यक्ति नितांत आवश्यक है। योगाभ्यास में प्रयुक्त होने वाले उपचारों में मात्र शारीरिक, मानसिक हलचलों को ही सब कुछ मानकर सन्तुष्ट नहीं हो बैठना चाहिए, उत्कृष्ट प्रयत्न यह होना चाहिए कि आत्मा को परमात्मा से जोड़ देने पर उपयुक्त भाव चेतना उत्पन्न की जा सके। महत्त्व तो इस भाव उभार का ही है। वह उभरेगा तो गाड़ी आगे चलेगी अन्यथा तथाकथित योगाभ्यासों की हलचलें कुछ समय तक श्रम-साधना में जितनी कुछ अनुभूति दे सकती हैं, उसे देकर समाप्त हो जायेंगी।

योग को चित्त-वृत्तियों का निरोध कहा गया है। चित्त की वृत्तियाँ ' प्रेम' को-वासना, तृष्णा, मोह, अहंता आदि भौतिक लिप्सा-लालसाओं की पूर्ति को ही सुखद मानती हैं, उन्हीं की इच्छा करती हैं और उन्हीं में निरत रहती हैं। पानी का स्वभाव नीचे की ओर गिरना है इस पतनोन्मुख प्रवृत्ति को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए वैसा ही प्रयत्न करना पड़ता है जैसे कुएँ से पानी खींचने अथवा तालाब का पानी टंकी में चढ़ाने के लिए। मन को ढीला छोड़ देने से वह जन्म-जन्मान्तरों की संग्रहीत एवं

अभ्यस्त पशु-प्रवृत्तियों के अस्तबल में अपने आप घुस जायेगा। घड़े से गिरते ही पानी नीचे की ओर बहने लगता है। चित्त का भी यही स्वभाव है। उसे उलटने का जो पुरुषार्थ करना पड़ता है उसी को चित्त-वृत्ति-निरोध कहा जायेगा। महर्षि पातञ्जलि ने इसी प्रयास को योग कहा है।

कई व्यक्ति चित्त-वृत्तियों के निरोध की बात को नहीं समझते और मात्र 'चित्त-निरोध' को ही योग मान लेते हैं। उनका तात्पर्य 'एकाग्रता' से होता है। एकाग्रता होना ही उनकी दृष्टि में योगाभ्यास की सफलता है और उसका न होना असफलता। यह भ्रम है। एकाग्रता एक चीज है और एकाग्रता का अपना महत्त्व और अपना लाभ है—उसका औचित्य और उपयोग समझा जा सकता है, पर एकाग्रता को ही योग का उपासना का आधार मान बैठना गलत है। एकाग्रता के भी स्तर हैं मैस्मरेजम, हिप्नोटिज्म में भी एकाग्रता प्रयुक्त होती है और देव प्रतिमा के समक्ष उसकी पूजा, आरती, स्तुति आदि से भी एकाग्रता का पाठ पढ़ा जाता है। पीछे यह बढ़ते-बढ़ते उस स्थिति तक भी पहुँच सकती है जिसे तन्मयता, भाव-समाधि, विचार-शून्यता आदि का नाम दिया जा सके। यह अन्तिम और समय-साध्य स्थिति है। लोग इसी को पहले दिन प्राप्त करना चाहते हैं।

'काम में मन लगाना' एक गुण है। यह प्रयोग दैनिक जीवन की प्रत्येक क्रिया में करते रहना चाहिए। श्रम और मनोयोग के सम्मिश्रण से होने वाले लाभों को जानना चाहिए और आलस्य, प्रमाद से उत्पन्न होने वाली हानियाँ समझनी चाहिए अपने काम को पूरी तत्परता, दिलचस्पी के साथ करने का अभ्यास डालें। यही स्वभाव 'भजन में मन लगाने' का भी आधार हो सकता है। जो लोग लापरवाही, उदासी एवं उपेक्षापूर्वक अपने काम करते हैं उनका भजन भी उसी प्रकार का होगा, भजन भी एक काम है और उसमें मन लगाना इस बात पर निर्भर है कि काम में मन लगाने की आदत है या नहीं। भजन में मन लगाने की पृष्ठभूमि विस्तृत है इसके लिए पूरी

कार्य-पद्धति को ही नये ढाँचे में ढालना होगा और दिलचस्पी तथा तत्परतापूर्वक काम करने की आदत विकसित करनी पड़ेगी। इस दिशा में जितनी चेष्टा होगी उसी अनुपात से प्रत्येक कार्य में मन लगेगा—साथ ही भजन में भी। हर काम को उपेक्षा और उदासी से करने वाले लोग मात्र भजन में ही मन लगाने की अपेक्षा रखेंगे तो उन्हें निराश ही होना पड़ेगा।

एकाग्रता की स्थिति समय-साध्य है, उसके लिए धैर्य और प्रयत्नपूर्वक बहुत समय तक अभ्यास करते रहने की आवश्यकता होगी। वह स्थिति न आये तो भी उतना हर्ज नहीं, जितना समझा जाता है। आत्मिक प्रगति के लिए मन की दिशा और धारा बदल देने की आवश्यकता है, उतने भर से 'चित्त-वृत्ति निरोध' की योग आवश्यकता पूरी होने लगती।

'प्रेय' की लिप्सा 'श्रेय' की आकांक्षा में बदली जानी चाहिए। पेट प्रजनन भर के लिए जीने में संलग्न पशु स्तरीय प्रवृत्ति को बदलकर आत्मा को परमात्मा स्तर तक विकसित करने की देव-स्तरीय प्रवृत्ति में प्रवेश करना चाहिए। आकांक्षायें बदल जाने से मन की विचारणा और शरीर की कार्यपद्धति में काया-कल्प प्रस्तुत हो जायेगा। प्रेय की निरर्थकता और श्रेय की सार्थकता में विश्वास बढ़ चले तो उसका प्रभाव कल्पना क्षेत्र में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगेगा।

आत्मा को परमात्मा से मिलाने वाली यही सड़क है। श्रेय की प्राप्ति को लक्ष्य मानकर चलने से चित्त-वृत्तियों में पूर्व की अपेक्षा असाधारण परिवर्तन हो जाता है। निकृष्टता उत्कृष्टता की दिशा में उलट पड़ती है, इसी ऊर्ध्वगमन को चित्तवृत्ति निरोध कहा जाता है। पतनोन्मुख पशु-प्रवृत्तियाँ जब उत्थान की दिशा में देव प्रवृत्तियों का रूप बना लेती हैं तो उस स्थिति को योग-स्थिति कह सकते हैं। गीता में योगी की गतिविधियों का स्वरूप बताते हुए कहा है कि—'जब लोग सोते रहते हैं तब वह जागता है।' 'जब लोग सोते हैं तो योगी जागता है।' इस रहस्यवाद के पीछे यही तथ्य छिपा है कि लोक-प्रवाह में

पशु-प्रवृत्तियों की ही प्रधानता है। इस प्रवाह को आत्मिक साहस के बल पर उलटने का नाम 'चित्तवृत्ति निरोध' है। यही योगी का प्रबल पुरुषार्थ माना जाता है।

एकाग्रता का अभ्यास क्रमशः होता है और वह समग्र साध्य है। इसलिए उसमें उतावली बरतने की आतुरता प्रदर्शित करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं। निरन्तर जीवन लक्ष्य का ध्यान रखा जाये तो उस धारा प्रवाह को एक दिशा कहा जा सकता है और उससे एकाग्रता का वास्तविक प्रयोजन पूरा हो सकता है।

वस्तुतः जिसे हम एकाग्रता कहते हैं वह सब चित्त की भागदौड़ को असीम से रोककर एक सीमित क्षेत्र में प्रतिबंधित करना है। मन बार-बार भागता है और उसे पकड़-पकड़कर बार-बार निश्चित ध्यान परिधि में लाया जाता है। यही प्रयोग चलता रहता है पूर्ण एकाग्रता समाधि अवस्था है और वह पूर्णता तक जा पहुँचने पर ही मिलती है। उसके लिए किसी को भी अधीर नहीं होना चाहिए।

हजार बार इस तथ्य को समझ लेना चाहिए कि पूर्ण एकाग्रता साधना काल की आरम्भिक प्रक्रिया या आवश्यकता किसी भी दृष्टि से नहीं है। उसके लिए न तो लालायित होना चाहिए न खिन्न। प्रयत्न करते रहना भर पर्याप्त है। मीरा, सूर, चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस आदि भक्तजनों की भावस्थिति का सूक्ष्म अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वे एकाग्रता प्राप्त कर सके और उन्हें लक्ष्य मिल गया। भक्त सम्प्रदाय में प्रणय, वियोग, अश्रुपात, समर्पण आलिंगन जैसे भावोन्मादों की घटाएँ ही उमड़ती रहती हैं। उस मनःस्थिति में एकाग्रता किसी भी प्रकार संभव नहीं। यदि एकाग्रता ही सर्वोपरि होती तो भक्तजनों पर हर घड़ी छाया रहने वाला भावोन्माद तथा उसके उभार में उठने वाले हास्य, रोदन, नृत्य, अवसाद आदि की उद्विग्नता लक्ष्य प्राप्ति में बहुत बड़ी बाधा बन गयी होती, पर ऐसा हुआ नहीं है।

यहाँ एकाग्रता महत्त्व घटाया नहीं जा रहा है और न उसे त्याज्य या उपेक्षणीय कहा जा रहा है। एकाग्रता की उपयोगिता

में किसी को संदेह नहीं होना चाहिए, इतने पर भी सर्वसाधारण के मन में जमी हुई उस भ्रान्ति का निराकरण होना ही चाहिए कि—' भजन में मन लगाना अर्थात् चित्त का एकाग्र होना आवश्यक है, वह है—तो भजन की सफलता—नहीं है तो असफल।' इस चिन्तन को हटाकर यों सोचना चाहिए कि ' चित्तनिरोध नहीं, चित्तवृत्तियों का निरोध आवश्यक है। एकाग्रता नहीं ' एक दिशा' अभीष्ट है। यदि ऐसा बन पड़े तो समझना चाहिए कि योग साधना की सही पृष्ठभूमि बन चली।

समूची ब्रह्म सत्ता को समझा जा सकना मनुष्य की छोटी बुद्धि के लिए असंभव है। ब्रह्माण्ड बहुत बढ़ा है, उसका विस्तार हमारी कल्पना शक्ति से बाहर है। अपनी पृथ्वी पर प्रकृति की जो कार्य पद्धति है, अन्य लोकों में उससे भिन्न है। पृथ्वी के प्राणधारियों की आकृति प्रकृति चिन्तन एवं जीवनयापन पद्धति में आकाश-पाताल जैसा अंतर है। फिर अन्य लोकवासी चैतन्य प्राणियों की रीति-नीति के बारे में तो कहा ही क्या जा सकता है ? समूचा ब्रह्माण्ड न तो हमारी समझ में आ सकता है और न उसे समझने की आवश्यकता है। मानवी चेतना के साथ ब्रह्म चेतना का जितना अंश संबंधित है उस भाग को ईश्वर या परमेश्वर कहते हैं। हमारे आनंद एवं उत्थान में उसी की भूमिका रहती है। अस्तु साधना के लिए उसी छोटी ब्रह्म परिधि के साथ हमारा सम्पर्क मिला लेना पर्याप्त माना गया है। उपासना का केन्द्र बिन्दु यह ईश्वर ही रहता है।

ब्रह्म एक है। अनेक रूपों में देवी-देवताओं की मान्यता से इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि एक-दूसरे से पृथक एवं स्वतन्त्र हैं। परमेश्वर असंख्य शक्तियों का भण्डार है। उसकी जिस क्षमता के साथ हमारा विशेष आकर्षक या लगाव होता है उसी को प्रधान मानकर चलने से अभीष्ट शक्ति-तत्त्व की अधिक मात्रा अपनी ओर आकर्षित करने का अवसर मिलता है। सूर्य की धूप में अल्ट्रावायलेट—अल्फावायलेट आदि अनेकों विशेष गुणों वाली क्षमतायें सन्निहित रहती हैं। वैज्ञानिक उपकरणों की

सहायता से शेष किरणों के समूह में से छाँटकर अपने लिए आवश्यक किरणों को ही पकड़ा और प्रयोग में लाया जा सकता है ब्रह्म को सूर्य और उसकी असंख्य किरणों को असंख्य देवता माना जा सकता है। जो अभीष्ट हो उस पर उपासना केन्द्रित की जा सकती है।

आवश्यकतानुसार विशेष सूक्ष्म शक्ति उपार्जन करने के लिए अमुक देवी-देवताओं की उपासना की भी खण्ड साधना की जा सकती है, पर अपना अनुभव और परामर्श यह है कि समग्र ब्रह्म की साधना ही सर्वोत्तम है। आहार वही आदर्श माना जाता है जिसमें पोषण के सभी तत्त्व मौजूद हों। प्रोटीन कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, अकेले उसी को खाना लाभदायक न रहेगा। अमुक देवता की उपासना अकेली प्रोटीन, अकेली कैल्शियम खाने की तरह है। आवश्यकता पड़ जाने पर चिकित्सा उपचार की तरह कोई विशेष तत्त्व अमुक मात्रा में लिया जाता है, इसी प्रकार विशेष प्रयोजन के लिए कोई देव-साधना उपयोगी हो सकती है, पर सर्वतोमुखी प्रगति के लिए-सर्वकालिक साधना समग्र ब्रह्म की ही होनी चाहिए।

यहाँ यह बात पूरी तरह ध्यान में रखने की है कि आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ा जाना ही योग का एकमात्र लक्ष्य है। इसके लिए चित्त वृत्तियों का निरोध, दिशा-परिवर्तन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। आखिर आत्मा और परमात्मा को मिलने की भूमिका तो चित्त को ही सम्पादित करनी है वह अन्य दिशा में उलझा रहेगा तो लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग पर बढ़ चलना किसके सहारे संभव होगा। यदि चित्त की अस्त-व्यस्तता सुव्यवस्था में बदली जा सके तो समझना चाहिए कि वह प्रयोजन पूरा होने वाला है जिसके लिए विविध साधनात्मक कर्मकाण्ड करने की आवश्यकता पड़ती है।



सफल साधना शांत मनःस्थिति पर निर्भर

शारीरिक और मानसिक उत्तेजनाएँ आत्मिक-साधनाओं में अत्यन्त बाधक होती हैं। उनके कारण महत्त्वपूर्ण साधना विधानों के लिए किया गया भारी प्रयास पुरुषार्थ भी निरर्थक चला जाता है। इसलिए तत्त्वदर्शी आत्मिक प्रगति की दिशा में बढ़ने के लिए प्रयत्नशील पथिकों को सदा से यही शिक्षा देते रहे हैं कि शरीर को तनाव रहित और मस्तिष्क को उत्तेजना रहित रखा जाय ताकि उस पर दिव्य चेतना का अवतरण निर्बाध गति से होता रह सके।

क्रिया-कलापों की भगदड़ से मांस पेशियों में—नाड़ी संस्थान में तनाव रहता है। बाहर से स्थिर होते हुए भी यदि शरीर के भीतर आवेश छाया रहा तो उस उफान के कारण मन का स्थिर एवं एकाग्र रह सकना भी संभव न होगा। हठयोग में शरीर को जटिल स्थिति में डाले रहने की आवश्यकता हो सकती है पर ध्यान योग की दृष्टि से वह सर्वथा अवांछनीय है। वद्धपद्मासन, शीर्षासन, एक पैर से खड़ा होना, जल में बैठना, धूप में तपना, शीत में कांपना, ठण्ड के दिनों में ठण्डे जल से नहाना, गर्मियों में धूनी तपना जैसे शरीर पर दबाव डालने वाले साधन क्रम हठयोग एवं तान्त्रिक साधनाओं के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, पर यदि कोई चाहे कि इस स्थिति में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि जैसे लययोग परक, अभ्यास कर सके तो उसे असफलता ही मिलेगी। इस सन्दर्भ में बहुधा खेचरी मुद्रा, नासिका पर दृष्टि जमाना, उड्डयन बन्ध जालन्धर बन्ध, यहाँ तक कि मन्त्रोच्चारण के साथ किया गया माला जप भी व्यतिरेक उत्पन्न करता है। इन विधि विधानों के साथ ध्यान नहीं हो सकता, क्योंकि चित्तवृत्तियाँ इन शरीरगत हलचलों में लगी रहती हैं—एकाग्रता हो तो कैसे हो ?

आरम्भिक साधना प्रयास में केवल आदत डालने, नियमितता अपनाने एवं रुचि उत्पन्न करने ज़ितना ही लक्ष्य रहता है, इसलिए उपासना में मनोरंजक—चित्त को एक नियम विधि व्यवस्था में लगाये रहने वाली विधियाँ उपयुक्त रहती हैं। शंकर जी पर बिल्वपत्र चढ़ाना, परिक्रमा करना, धूप, दीप आदि से देव प्रतिमा का पंचोपचार पूजन, स्तवन, पाठ, जप आदि शारीरिक हलचलों के साथ की जाने वाली साधनाएँ इसी स्तर की होती हैं, उनमें रुचि उत्पन्न करने, स्वभाव का रुझान ढालने का लक्ष्य जुड़ा रहता है। आरंभ में इस लाभ का भी अपना महत्त्व है किन्तु जब ध्यान योग की उच्च भूमिका में प्रवेश करना होता है तो शरीरगत हलचलें बन्द करके निःश्चेष्ट होने की आवश्यकता पड़ती है। मांसपेशियों और नाड़ी संस्थान को जितना अधिक तनाव रहित शान्त रखा जा सके उतना ही लाभ मिलता है।

मन मस्तिष्क के बारे में भी यही बात है। उसमें हलचलें चल रही होंगी, तरह-तरह के विचार उठ रहे होंगे तो जल में उठती हुई हिलोरों की तरह अस्थिरता ही बनी रहेगी। स्थिर जल राशि में चन्द्र, सूर्य, तारे आदि का प्रतिबिम्ब ठीक प्रकार दृष्टिगोचर होता है पर हिलते हुए पानी में कोई छवि नहीं देखी जा सकती। विचारों की हड़कम्प यदि मस्तिष्क में उठती रहे—तरह-तरह की कल्पनाएँ घुड़दौड़ मचाती रहें तो फिर ब्रह्म संबंध की प्रगाढ़ता में निश्चित रूप से अड़चन पड़ेगी। मस्तिष्क जितना अधिक विचार रहित—खाली होगा उतनी ही तन्मयता उत्पन्न होगी और आत्मा परमात्मा का मिलन संयोग अधिक प्रगाढ़ एवं प्रभावशाली बनता चला जायेगा।

आकाश में जब बिजली कड़क रही हो या आँधी-तूफान का मौसम चल रहा हो तो हमारे रेडियो में आवाज साफ नहीं आती कड़कड़ जैसे व्यवधान उठते रहते हैं और प्रोग्राम ठीक से सुनाई नहीं पड़ते। अन्तरिक्ष से भौतिक शक्तियों एवं आत्मिक चेतनाओं का सुदूर क्षेत्र से मनुष्य पर अवतरण होता रहता है। ब्राह्मी चेतना एक प्रकार का ब्रोडकास्ट केन्द्र है जहाँ से मात्र

संकेत, निर्देश, सूचनाएँ ही नहीं वरन् विविध प्रकार की सामर्थ्यें भी प्रेरित की जाती रहती हैं। सूक्ष्म जगत में यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। जहाँ सही रेडियो यन्त्र लगा है—जहाँ व्यक्ति ने अपने आपको इसी अंतःस्थिति में बना लिया है वहाँ यह सुविधा रहेगी कि ब्रह्म चेतना की विविध सूचनाओं को ग्रहण करके अपनी ज्ञान चेतना को बढ़ा सके। इतना ही नहीं प्रेरित दिव्य शक्तियों को ग्रहण करने और धारण करने का लाभ उठाकर अपने को असाधारण आत्मबल सम्पन्न बना सकें।

परन्तु यह संभव तभी है जब मनुष्य अपने मस्तिष्क को तनाव रहित-शान्त स्थिति में रखे। आँधी-तूफान कड़क और गड़गड़ाहट उथल-पुथल रेडियो को ठीक से काम नहीं करने देतीं। मनुष्य का शरीर और मन उत्तेजित—तनाव की स्थिति में रहे तो फिर यह कठिन ही होगा कि वह ब्रह्म चेतना के साथ अपना संबंध ठीक से जोड़ सके और उस सम्मिलन की उपलब्धियों का लाभ उठा सके।

ध्यान भूमिका की साधना में शरीर को ढीला और मन को खाली रखना चाहिए। इसके लिए शिथिलीकरण मुद्रा तथा उन्मनी मुद्रा का अभ्यास करना पड़ता है। शिथिलीकरण का स्वरूप यह है कि देह को मृतक-निष्प्राण मूर्च्छित, निद्रित, निःचेष्ट स्थिति में किसी आराम कुर्सी या किसी अन्य सहारे की वस्तु से टिका दिया जाय और ऐसा अनुभव किया जाय मानो शरीर प्रसुप्त स्थिति में पड़ा हुआ है। उसमें कोई हरकत हलचल नहीं हो रही है। यह मुद्रा शरीर को असाधारण विश्राम देती और तनाव दूर करती है। ध्यान योग के लिए यही स्थिति सफलता का पथ प्रशस्त करती है।

मन मस्तिष्क को ढीला करने वाली उन्मनी मुद्रा यह है कि इस समस्त विश्व को पूर्णतया शून्य रिक्त अनुभव किया जाय। प्रलय के समय ऊपर नील आकाश, नीचे नील जल स्वयं अबोध बालक की तरह कमल पत्र पर पड़े हुए तैरना अपने पैर का अँगूठा अपने मुख से चूसना, इस प्रकार का प्रलय चित्र

बाजार में भी बिकता है। मन को शान्त करने की दृष्टि से यह स्थिति बहुत ही उपयुक्त है संसार में कोई व्यक्ति, वस्तु, हलचल, समस्या, आवश्यकता है ही नहीं, सर्वत्र पूर्ण नीरवता ही भरी पड़ी है—यह मान्यता प्रगाढ़ होने पर मन के लिए भोगने, सोचने, चाहने का कोई पदार्थ या कारण रह ही नहीं जाता। अबोध बालक के मन में कल्पनाओं की घुड़दौड़ की कोई गुंजायश नहीं रहती। अपने पैर के अँगूठे में से निसृत अमृत का जब आप ही परमानन्द उपलब्ध हो रहा है तो बाहर कुछ ढूँढ़ने खोजने की आवश्यकता ही क्या रही ? इस उन्मनी मुद्रा में आस्थापूर्वक यदि मन जमाया जाय तो उसके खाली एवं शान्त होने की कोई कठिनाई नहीं रहती। कहना न होगा कि शरीर को ढीला और मन को खाली करना ध्यान योग के लिए नितांत आवश्यक है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ध्यान योग का चुम्बकत्व ही आत्मा और परमात्मा की प्रगाढ़ घनिष्ठता को विकसित करके द्वैत को अद्वैत बनाने में सफल होता है। आत्मा और परमात्मा का मिलन संयोग जितना गहरा होगा उतना ही परस्पर लय होने की—संभावना बढ़ेगी। इस एकता के आधार पर ही बिन्दु को सिन्धु बनने का अवसर मिलता है। जीव के ब्रह्म बनने का अवसर ऐसे ही लय समर्पण पर—एकात्म भाव पर निर्भर रहता है।

जटिल संरचना वाले कोमल तारों एवं पुर्जों से बने यन्त्रों का उपयोग बहुत साज सँभाल के साथ किया जाता है। उन्हें झटके धक्के लगते रहें तो कुछ ही समय में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। ट्रांजिस्टर, रेडियो, टेप रिकार्डर, घड़ी आदि संवेदनशील यन्त्र भारी उठक-पटक बर्दाश्त नहीं कर सकते। उन्हें ठीक रखना हो तो सावधानी के साथ उठाने, रखने, बरतने का क्रम चलाना चाहिए। यही बात शरीर और मस्तिष्क के बारे में है, यदि उन्हें स्वस्थ स्थिति में रखना हो तो तनावों और आवेशों से उनकी समस्वरता को नष्ट होने से बचाना ही चाहिए।

शरीर को मृत समान निर्जीव करने—काया से प्राण को अलग मानने-अर्धनिद्रित स्थिति में मांसपेशियों को ढीला करके आराम कुर्सी जैसे किसी सुविधा-साधन के सहारे पड़े रहने को शिथिलीकरण मुद्रा कहते हैं। ध्यानयोग के लिए यही सर्वोत्तम आसन है। शरीर को इस प्रकार ढीला करने के अतिरिक्त मन को भी खाली करने की आवश्यकता पड़ती है। ऊपर नील आकाश—नीचे अनंत नीलजल—अन्य कोई पदार्थ, कोई जीव, कोई परिस्थिति कहीं नहीं, ऐसी भावना के साथ यदि अपने को निर्मल निश्चिन्त मन वाले बालक की स्थिति में एकाकी होने की मान्यता मन में जमाई जाय तो मन सहज ही ढीला हो जाता है। इन दो प्रारम्भिक प्रयासों में सफलता मिल सके तो ही समझना चाहिए कि ध्यानयोग में आगे बढ़ने का पथ प्रशस्त हो गया।

संसार व्यापी शून्य नीलिमा की तरह ध्यानयोग में अपने हृदयाकाश को भी रिक्त करना पड़ता है। कामनाएँ—वासनाएँ—ऐषणाएँ—आकांक्षाएँ, प्रवृत्तियाँ-भावावेश परक उद्विग्नताएँ मन में जितनी उभर उफन रही होंगी उतना ही अंतःक्षेत्र अशान्त रहेगा और एकाग्रता का—तन्मयता का—लय स्थिति का आधार अपनाकर हो सकने वाला ध्यान प्रयोजन पूरा न हो सकेगा।

मस्तिष्क पर क्रोध, शोक, भय, हानि, असफलता, आतंक आदि के कारण आवेश आते हैं पर वे स्थायी नहीं शिथिल एवं विस्मृत हो जाते हैं। उनका प्रभाव चला जाता है। पर कामनाओं की उत्तेजना ऐसी है जो निरन्तर बनी रहती है और दर्द की तरह मनःसंस्थान में आवेश की स्थिति बनाये रहती है। घृणा, द्वेष, प्रतिशोध, आशंका जैसे निषेधात्मक और लोभ, मोह, अहंता, वैभव, सत्ता, पद, यश, भोग, प्रदर्शन जैसी भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं की विधेयात्मक कामनाएँ यदि उग्र हों तो दिन-रात सोते जागते कभी चैन नहीं मिल सकता और अपना अन्तःकरण निरन्तर उद्विग्न उत्तेजित बना रहता है। यह स्थिति ध्यान साधना के लिये—ब्रह्म सम्बन्ध के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है।

शरीर मन और भाव संस्थान को जितना अधिक शिथिल, शान्त, रिक्त किया जा सके उतनी ही आत्म साधना के उपयुक्त मनोभूमिका निर्माण होता है।

ध्यान योग की साधना में कुछ अन्य बातें स्मरण रखने योग्य इस प्रकार हैं—

साधक पालथी मारकर बैठें। पंच पात्र आदि अन्य किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं है। स्थान जहाँ तक हो सके खुला हुआ ही ढूँढ़ा जाय। बन्द और घुटन के स्थान में दीवारों का अवरोध उत्पन्न होता है।

सभी प्रकार की ध्यान साधना में " ध्यान मुद्रा" बनाने का नियम है। उसका पालन इस विशिष्ट ध्यान धारण में तो अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए। ध्यान मुद्रा के पाँच अनुशासन हैं—(१) स्थिर शरीर, (२) शांत चित्त, (३) कमर सीधी, (४) हाथ गोदी में, (५) आँखें बन्द। शरीर और मन की स्थिति इस स्तर की बना लेने के उपरान्त ही ध्यान योग की साधना सधती है।

स्थिर शरीर का तात्पर्य है—देह को लकड़ी, पत्थर की बनी प्रतिमा जैसी बना लेना। अंगों का ऐन्द्रिक संचालन रोक देना। श्वास-प्रश्वास, आकुंचन, प्रकुंचन, निमेष-उन्मेष जैसी अनैच्छिक क्रियाएँ भर चलने देना। ऐसी स्थिति लाने के लिए शिथिलासन, शवासन अर्धमृतक मूर्च्छित जैसी भावना करनी पड़ती है। शरीर की हलचलें जितनी कम होंगी—ध्यान उतना ही अच्छी तरह लगेगा। हिलते-जुलते मटकते-फड़कते रहने से मन की चंचलता बनी ही रहती है।

शान्त चित्त का अर्थ है—कल्पनाओं की उड़ानें बन्द करना—एकाग्रता। यह स्थिति तभी प्राप्त होती है जब किसी श्रेष्ठ के साथ अपने को गुथा देने की घुला देने की भावना की जाय। स्व को किसी विशिष्ट से तादात्म्य बना देने को ही समर्पण या लययोग कहते हैं। एकता ही एकाग्रता है। तन्मयता से ही चित्त शान्त होता है। इसकी उपमा देकर ब्रह्मानन्द की

सरसता का परिचय दिया जाता है। अपने ' स्व को इष्टदेव की सत्ता में भावातिरेक के साथ गुथा दिया जाय—मन में मन को, प्राण में प्राण को, आत्मा में आत्मा को घुला देने का अभ्यास करें तो भक्ति-भाव की उच्च भूमिका उत्पन्न होती है और शान्त चित्त की मनःस्थिति बन जाती है। ईंधन का आग में, बूँद का समुद्र में, नमक का पानी में—जिस प्रकार विलय हो जाता है। दो शरीर जिस प्रकार एक प्राण बन जाते हैं उसी स्तर की भावना इष्टदेव के साथ करने में जितनी सफलता मिलेगी वह उतना ही ' शान्ति चित्त' अनुभव करेगा। द्वैत ही चंचलता और अद्वैत ही एकाग्रता की भूमिका है। इष्टदेव का प्रथम निर्धारण सद्‌गुरु के रूप में भी हो सकता है और प्रत्यक्ष परिचय होने के कारण उस माध्यम से अभ्यास और भी सरल पड़ता है।

मेरुदण्ड सीधा रखना इसलिए आवश्यक है कि ब्रह्मरन्ध्र उत्तरी ध्रुव और मूलाधार-कुण्डलिनी केन्द्र दक्षिणी ध्रुव। दोनों के मध्य प्रवाह क्रम जारी रहने से ही इस संसार में समर्थता एवं सम्पन्नता विद्यमान है। इसमें अवरोध होने से सुव्यवस्था लड़खड़ाती है और विश्व व्यवस्था में कई प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न होती है। ठीक यही बात मेरुदण्ड के संबंध में भी है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के त्रिविधि प्राण प्रवाह उसी में होकर चलते हैं। षटचक्रों के दिव्य भण्डार इसी मार्ग में सन्निहित हैं। इस मार्ग को सीधा और साफ रखने के लिए मेरुदण्ड सीधा रखना योगाभ्यास का आवश्यक नियम है। कमर में दर्द होता हो तो सहारा लेकर जितना संभव हो, सीधा रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

हाथ गोदी में रखने के साथ दोनों हाथ खुले रहें। बांई हथेली के ऊपर दाहिना हाथ रहे कर्मेन्द्रियों में हाथ ही सबसे अधिक सक्षम हैं, वे दोनों मिलते हैं तो नमस्कार से लेकर पुरुषार्थ तक के समस्त काम मिलकर भली प्रकार सम्पन्न करते हैं। साधना में भी दोनों के साथ होने से अन्तःविद्युत का एक

उपयोगी सर्किल बनता है, ध्यान मुद्रा में यह स्थिति अतीव उपयोगी मानी गयी है।

आँखें बन्द करने के दो उद्देश्य हैं—एक है बहुर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना। दूसरा है आँखों से निरन्तर निसृत होने वाले विद्युत प्रवाह को इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर बाहर बिखरने न देना। वाणी की मौन तपश्चर्या की तरह आँखों को बन्द रखना भी नेत्र-तप माना गया है। चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी होने से अन्तर्जगत के वैभव को समझना और कहाँ क्या छिपा है ? इस जानकारी के आधार पर उसे प्राप्त करना तभी संभव होता है जब उस क्षेत्र का पर्यवेक्षण किया जाय। बहिर्मुखी वृत्तियाँ बाहर ही उपजी रहती हैं। अतएव उस दिव्य भाण्डागार को देखने समझने और उखाड़ने के लिए कुछ बन ही नहीं पड़ता। नेत्र बन्द करना—अन्तर्मुखी होना—अन्तर्जगत में प्रवेश करना है। आत्मोत्कर्ष के लिए की जाने वाली ध्यान धारणा में सदा नेत्र बन्द रखे जाते हैं।

अकेली ध्यान मुद्रा में भी यदि आत्मिक उत्कृष्टता और श्रेष्ठता के प्रति समर्पण की धारणा जारी रखी जाय तो उतने से भी ध्यानयोग का सामान्य प्रयोजन भली प्रकार पूरा होता रहता है। इसके साथ यदि हिमालय के अनुदानों को ग्रहण और धारण करने का उपक्रम भी चल पड़े तो सोने में सुगन्ध की स्थिति बन पड़ती है। पुरुषार्थ के रूप में ध्यान मुद्रा और अनुग्रह के रूप में अनुदान उपलब्धि का सुयोग बनने पर तो प्रगति का क्रम अनेक गुने वेग से द्रुतगति से चल पड़ता है।



अध्यात्म क्षेत्र की तीन विशिष्ट सिद्धियाँ

सामान्य जन, अनेकानेक क्षुद्र योनियों के कुसंस्कारों से लदे होते हैं। शिश्नोदर-परायण पशु प्रदर्शन में ही उनका मन रमता और प्रयत्न चलता है। इस क्षेत्र से उठकर मानवी गरिमा के क्षेत्र में प्रवेश करने की प्रक्रिया अध्यात्म तत्त्वज्ञान और साधना विधान के सहारे ही संभव होती है। उसका आलोक अंतराल में प्रवेश करता है, तो पुण्य-परमार्थ की प्रवृत्तियाँ उभरती हैं। पुण्य अर्थात् आत्म-संयम, परमार्थ अर्थात् सत्प्रवृत्ति संवर्धन में उत्साह। इन्हीं के समन्वय को देवत्व कहते हैं। महामानवों का यह कार्य क्षेत्र है। उनकी विचारणा एवं तत्परता इन्हीं दो प्रयोजनों पर केन्द्रित होती है, फलतः वे स्वयं कृत-कृत्य होते हैं और अपने सम्पर्क क्षेत्र में शालीनता का वातावरण उत्पन्न करने में चन्दन वृक्ष का उदाहरण बनते हैं। यह अध्यात्म क्षेत्र ही देवमानवों की नर-रत्नों की खदान है। इस विद्या का जब, जितना प्रचलन विस्तरण होता है, तब उसी अनुपात से वैयक्तिक प्रखरता और सामूहिक समर्थता की अभिवृद्धि होती है। सर्वतोमुखी प्रगति का पथ प्रशस्त होता है। चेतना में उत्कृष्टता का स्तर बढ़ने से स्वल्प साधनों को मिल-बाँटकर खाया और संतोषपूर्वक रहा जा सकता है। जबकि इनकी कमी पड़ने पर लोग आपस में टकराते और नारकीय दुष्प्रवृत्तियों से सर्वत्र अशांति उत्पन्न करते हैं। भले ही सम्पदा के पर्वत इर्द-गिर्द ही क्यों न खड़े रहें।

इन तथ्यों पर ध्यान देने से अध्यात्म तत्त्वज्ञान और साधना विधान की व्यावहारिक गरिमा प्रकट होती है। यह प्रतिफल ऐसे हैं, जिन्हें अपनाये जाने पर मनुष्य में देवत्व का उदय होना निश्चित है। जहाँ सज्जनता बढ़ेगी वहाँ अपनी इसी धरती पर स्वर्ग जैसा वातावरण बिखरा-बिखरा फिरेगा। यही है—अध्यात्म की विभूतिवान परिणति, जिसके लिए उसे

विचारशीलों द्वारा असाधारण महत्त्व दिया गया है और उनके माहात्म्यों का वर्णन अलंकारिक आकर्षणों सहित व्यक्त किया गया है।

इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि चेतना को नरक से उबार कर स्वर्ग में पहुँचाने वाली इस विद्या को जादूगरी-बाजीगरी की पंक्ति में बिठा दिया गया है। प्रचलन में अध्यात्म का अर्थ कौतुक-कौतूहल चमत्कार जैसा माना जाता है और उस आधार पर छुट-पुट सी हेरा-फेरी करने पर विपुल सम्पदाएँ मनमानी सफलताएँ पाने का सपना देखा जाता है। अकर्मण्य लोग पुरुषार्थ के बल पर वैभव खोदने में सफल नहीं होते तो इन हथकण्डों के सहारे सम्पत्तिवान और यशस्वी बनने की बात सोचते हैं। कइयों को चित्र-विचित्र दृश्यों के देखने की बाल-सुलभ उत्सुकता रहती है। कोई देवी-देवता के अपने इर्द-गिर्द नाचने-कूदने का दृश्य देखना चाहते हैं। कुछ को कुण्डलिनी सर्पिणी की फुफकार सुनने आँखों के आगे आज्ञा चक्र घूमने, आकाश से पुष्प वर्षा होने जैसे कौतूहलों का मजा लूटने की इच्छा रहती है। कुछ हवा में हाथ मार कर इलायची, जलेबी आदि मँगाने और मुफ्त की वस्तुओं का स्वाद चखना चाहते हैं। संक्षेप में यही है—ऋद्धि-सिद्धि का कौतुक-कौतूहल जिसके आधार पर किसी को गढ़ा दबा खजाना बताने का प्रलोभन और किसी को मारण-मोहन का भय दिखाकर उँगली के इशारे पर नचाया जाता है। कुछ देवताओं के सोल एजेण्ट बनते हैं और कुछ भविष्यवक्ता—भाग्यविधाता होने का दावा करते हुए अपने को सिद्ध पुरुष के रूप में चमत्कारी घोषित करते हैं। अब अणिमा महिमा जैसी हवा में उड़ने, पानी पर चलने और अदृश्य बनने जैसी करामातों के दावेदार तो नहीं रहे, पर बाजीगरों की तरह बालों में से बालू निकालने वालों की अभी भी कमी नहीं है। आश्चर्य होता है कि यह सारा भ्रम-जंजाल अध्यात्म के साथ कैसे जुड़ गया ? देवता से मलीनता का यह अम्बार किस प्रकार चिपक गया ?

अध्यात्म क्षेत्र के साधकों को जहाँ दूरदर्शी, विवेकवान् होना चाहिए था, तथ्य और सत्य की परख में रस लेना चाहिए था, संयमी और परोपकार जैसी प्रवृत्ति से उन्हें विभूतिवान् रहना चाहिए था, वहाँ मुफ्त की मनोकामनाएँ पूरी कराने और कौतूहल देखने की ललक से उनका मनःक्षेत्र किस कारण इतना दिग्भ्रान्त और कलुषित हो गया। पुरातन उदाहरणों में अध्यात्म क्षेत्र के साधक और प्रवक्ता ऋषि स्तर के ही दीख पड़ते हैं। उन्हें ऋषि-तुल्य जीवनयापन करते और अहर्निश लोक सेवा में प्राणपण से निरत पाते हैं। पर आज तो सब कुछ उल्टा है। तथाकथित साधु-सन्तों की मनःस्थिति और परिस्थिति को कसौटियों पर कसने पर प्रतीत होता है कि महामना के स्थान पर प्रवंचना और विडम्बना ने बुरी तरह आधिपत्य जमा रखा है।

चमत्कारवाद की घुस पैठ इस क्षेत्र में कैसे हुई ? इसका आधार तपश्चर्या के आधार पर उपलब्ध होने वाली अतीन्द्रिय क्षमता के साथ जुड़ता-सा दीखता है। अंतराल की गहन परतों में साधना के आधार पर प्रवेश करने वाले निःसंदेह अतीन्द्रय क्षमताएँ अर्जित करते हैं। अतिमानस का निखार होने पर व्यक्ति अति मानव बनता है। ऐसों के पास देवोपम स्तर की क्षमताएँ होनी चाहिए। होती भी हैं। पर प्रश्न यह है कि उनका प्रदर्शन कौतुक-कौतूहल प्रदर्शित करने के लिए क्यों हो ? क्यों न उस विशिष्टता के आधार पर लोकमंगल की सामयिक एवं महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं को पूरा किया जाय ? पुरातन काल की ऋषि परम्परा यही थी। आत्मबल के धनी एक-एक महामानव ने अपने उपार्जन को सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिए प्रस्तुत किया है। किसी को चमत्कार तमाशे नहीं दिखाये। फिर आज उस प्रदर्शन की आवश्यकता क्यों पड़ गयी।

तथ्य यह है, कि किसी क्षेत्र में असाधारण पुरुषार्थ करने पर उसकी असाधारण उपलब्धियाँ भी हस्तगत होती हैं। सामान्यतया स्थूल शरीर ही व्यवहार में आता है और उससे संबंधित बलिष्ठता, सम्पन्नता, प्रतिभा जैसी सम्पदाएँ उपार्जित की

जाती हैं। सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के क्षेत्र और भी अधिक महत्त्वपूर्ण विभूतियों से भरे पड़े हैं। उनमें सृष्टा का समस्त वैभव बीजरूप से प्रतिष्ठित है। प्रयत्नकर्त्ता उस सम्पदा को कुरेदने, उभारने और बटोरने में समर्थ हो सकते हैं। अतीन्द्रिय क्षमता का भण्डार हस्तगत कर सकते और देव मानव स्तर के चमत्कारी सिद्ध पुरुष बन सकते हैं। अध्यात्म क्षेत्र के वरिष्ठों में ऐसी ऋद्धि-सिद्धियों के समय-समय पर दर्शन होते भी रहते हैं। इसमें इतना तो सिद्ध होता है कि तपश्चर्या एवं योगसाधना के सहारे सूक्ष्म शरीर और कारण शरीरों की क्षमता को देवोपम स्तर तक उभारा-उठाया जा सकता है।

इतना जानने वालों को इतना और भी जानना चाहिए कि जिनके पास ऐसी विभूतियाँ होती हैं, वे उनका प्रदर्शन कौतुक-कौतूहल दिखाने जैसी आत्मश्लाघा एवं बाल-क्रीड़ा में कभी भी न करेंगे और न ठगों की चापलूसी से प्रभावित होकर कुपात्रों की मनोकामना के निमित्त लुटाने की भूल करेंगे। उन्हें ध्यान रहता है कि इस उपार्जन का सदुपयोग मात्र लोकमंगल एवं सत्प्रवृत्ति संवर्धन के निमित्त ही हो सकता है। ऐसी दशा में कौतुक-कौतूहल देखने वालों और मुफ्त का वरदान बटोरने वालों का पक्ष हेय रहने से उन्हें निराश रहना पड़ता है। अध्यात्म क्षेत्र के सुसम्पन्नों में से प्रत्येक का स्तर एवं प्रयास यही रहा है। उनका उच्चस्तरीय उपार्जन व्यक्ति विशेष को इन्द्र-कुबेर बनाने का नहीं वरन् मात्र लोक मंगल के लिए नियोजित रहा है। पुरातन काल के ऋषियों से लेकर तत्कालीन बुद्ध, शंकर समर्थ परमहंस, गाँधी जैसे सन्त अध्यात्मवादी अपनी शक्ति को महान् प्रयोजन में ही निरत रखे रहे हैं। सत्प्रयोजनों के लिए ही उनने अपनी सम्पत्ति के अनुदान हस्तान्तरित किये हैं। किसी भी लुटेरे की दाल उनके आगे नहीं गली। व्यक्तिगत सम्पन्नता पाने और गुलछर्रे उड़ाने के लिए कोई भी धूर्त उनकी जेब काट लाने में कुछ भी विडम्बना रच कर सफल नहीं हो सका। सन्त, सामान्य जनों की मनोदशा मोड़ते और सुधारते हैं। सस्ती चापलूसी के

बदले अपने बहुमूल्य भण्डारों को कुपात्रों को लुटाने या चित्र-विचित्र करामातें दिखाने की भूल सन्तों अध्यात्मवादियों में से आज तक किसी ने भी नहीं की है। जिनकी जेब खाली है उन्हें ही करोड़पति जैसी शेखी बघारने और विडम्बना रचने में संलग्न देखा जाता है विभूतिवान् जिस घोर तप साधना से सिद्धियों को अर्जित करते हैं, उसी जिम्मेदारी के साथ उसका उपयोग भी फूँक-फूँककर करते हैं। लुटाने का पाखण्ड रचने वालों में से शत-प्रतिशत ढपोलशंख ही होते हैं।

अतीन्द्रिय क्षमताओं की ऋद्धि-सिद्धि स्तर के विशिष्ट व्यक्तियों के पास ही होती है और उसका प्रयोग विशिष्ट प्रयोजनों के लिए ही होता है। सर्वजनीन सिद्धियाँ तीन हैं—(१) आत्म सन्तोष, (२) जन सहयोग और (३) दैवी अनुग्रह। इन्हें अध्यात्मवादी हाथों हाथ प्राप्त करता है और उनके महत्त्वपूर्ण प्रतिफल का रसास्वादन करते हुए अपने आपको कृत-कृत्य अनुभव करता है। यह सिद्धियाँ ऐसी हैं जिन्हें पारस, कल्पवृक्ष और अमृत की उपमा निःसन्देह दी जा सके।

आत्मसन्तोष के लिए ही दिन-रात श्रम करते और भले-बुरे कार्यों में हाथ डालते हैं। सम्पन्नता, बुद्धिमत्ता, प्रतिभा कितनी ही अधिक अर्जित करने पर उनका लाभ शरीर भर को मिलता है, आत्मा की क्षुधा पिपासा आन्तरिक उत्कृष्टता एवं उदार सेवा साधना से ही तृप्त होती है। सच्चे अध्यात्मवादी को इन्हीं दो प्रयत्नों में सर्वतोभावेन निरत होना पड़ता है, फलतः असीम मात्रा में आत्म-सन्तोष मिलता है। जड़ें मजबूत एवं गहरी होने से ही वृक्ष विकसित होता है। आत्मा के समर्थन एवं आशीर्वाद से ही व्यक्तित्व की महानता उभरती है। फलतः साहस, उत्साह और संकल्प की कमी नहीं रहती। आत्म-सन्तोष और आत्मबल अन्योन्याश्रित हैं। जहाँ एक होगा, वहाँ दूसरा भी रहेगा अन्तर्द्वन्द्व ही आत्मबल को नष्ट करते हैं। जहाँ आत्मा और परमात्मा की व्यक्ति और आदर्श की एकता है, वहाँ हर घड़ी प्रसन्नता बनी रहेगी और उल्लास भरी उमंगें उठती रहेंगी।

आत्मबल संसार का सबसे बड़ा बल है। वह जहाँ होता है, वहीं अन्य बल भीतर से उपजते बढ़ते भी हैं और बाहर से खिंचते भी चले आते हैं। आत्म-सम्पदा के धनी लोगों को भौतिक सम्पन्नता की भी कमी न रही। जहाँ क्षुद्रता से घिरे लोग कुकर्म करते और हेय स्तर अपनाने पर भी दरिद्र उद्विग्न बने रहते हैं, वहाँ आत्मबल के धनी बुद्ध और गाँधी की तरह हर स्तर की विभूतियों से घिरे रहते हैं। यह बात दूसरी है कि क्षुद्रजनों की तरह अपना-पराया सब कुछ उदरस्थ ही नहीं करते रहते, वरन् उसे सत्प्रयोजन के निमित्त भगवान के खेत में बोते रहते हैं ताकि अदृश्य स्तर की दिव्य विभूतियों से उनका कोष हजारों गुना बढ़ता रहे। जिसे खिलाने में मजा आया वह खाने में कटौती करता है और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर की तरह दूसरों को खिलाता रहता है। शबरी इसी आधार पर कृत-कृत्य हुई थी। गोपियों ने यही नीति अपनाकर भगवान् को ललचाया और आँगन में नचाया था। क्षुद्र जन खाना ही खाना जानते हैं, जबकि महान् खिलाने का आनंद लूटते और आत्म-सन्तोष आत्मबल के धनी बनते हैं।

अध्यात्म क्षेत्र की दूसरी सिद्धि है—लोक सम्मान—जन सहयोग हर किसी की इच्छा लोक सम्मान पाने की होती है। सज-धज, ठाट-बाट में ढेरों समय और धन इसीलिए लगता है कि लोगों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न हो, वरिष्ठता स्वीकारें, प्रभावित हों और वाह-वाह करने लगें। इस ललक की पूर्ति के लिए मनुष्य निरन्तर लालायित रहता है। "स्टेटस" बनाना "स्टेण्डर्ड मेण्टेन" करना इसी को कहते हैं। इस विडम्बना में मनुष्य का अधिक चिन्तन, श्रम और उपार्जन खप जाता है फिर भी पल्ले कुछ नहीं पड़ता, वरन् उल्टे ईर्ष्या का शिकार होना पड़ता है। अपव्यय जन्य तंगी और उसकी पूर्ति के लिए अनीति अपनाने का एक कुचक्र अलग ही चल पड़ता है।

अध्यात्मवादी की आत्म परिष्कार और लोकमंगल में संलग्न सत्प्रवृत्तियाँ जन-जन का मन जीत लेती हैं—सहज श्रद्धा

उत्पन्न करती हैं, श्रेष्ठता को सदा वरिष्ठता मिलती है और उसे हार्दिक स्नेह सम्मान मिलता है। शत्रु भी प्रशंसा करते हैं। इसी आधार पर मनुष्य प्रामाणिक बनता है। जो प्रामाणिक है उसे भरपूर सम्मान मिलता है। यह तथ्य भी स्मरण रखने योग्य है कि सम्मान के साथ सहयोग भी जुड़ा हुआ है जो जिसकी इज्जत करेगा वह उसका अनायास ही सहयोग करेगा। सहयोग ही वह आधार है जिसके सहारे बहिर्मुखी प्रगति के पथ पर अग्रसर होना किसी के लिए संभव होता है। महा मानवों को सफलताएँ इसी आधार पर संभव हुई हैं। उन्होंने अपनी टाँगों से छलांग नहीं लगायी वरन् लोगों ने कन्धों पर बिठाकर उनको ऊपर उठाया और सफल बनाया है। इस स्तर की सफलता भले ही आँखों से तत्काल प्रत्यक्ष न दीखती हो, पर उसकी परोक्ष परिणति को तनिक-सी गहराई में उतरने पर सहज ही जाना जा सकता है। इस स्तर की सफलता को सच्चे अर्थों में सिद्धि कहा जा सकता है। इससे अपना ही नहीं दूसरे असंख्यों का भी भला होता है। आश्रितों को अनुकरण की प्रेरणा मिलती है और वातावरण में उत्कृष्टता का पक्ष उभर कर आता है।

दैवी अनुग्रह तीसरी सिद्धि है। सत्प्रयोजन में आमतौर से सर्वसाधारण का व्यंग उपहास असहयोग विरोध ही रहता है। प्रचलन के विपरीत कदम बढ़ाने वालों के मार्ग में लोग पग-पग पर अड़चनें, अटकाते, निरुत्साहित करने और विपरीत परामर्श देते हैं। ऐसी दशा में श्रेय पथ के पथिक को आत्म विश्वास के सहारे एकाकी आगे बढ़ना होता है। स्पष्ट है कि विरोध में सारा वातावरण और प्रयास में साधन रहित एकाकी फिर सफलता कैसे मिली ? इस संदर्भ में परा दैवी शक्तियाँ सहायता करती और प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलती देखी गयी हैं। इन्हीं के समर्थन से आदर्शवादी संकल्प को स्थिर रखने और साहस बनाये रहने में समर्थ होता है। आदर्शवादियों की सफलता का यही परोक्ष इतिहास है। उन्हें दैवी अनुग्रह के सहारे ही भँवरों को पार करते हुए पार पहुँचाने का सौभाग्य मिला है। इतना ही

नहीं, उनने अपनी नाव खेते हुए अगणित अन्यान्यों को भी पार उतारा है।

अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ संभव हैं या नहीं ? चमत्कार दिखाने और निहाल बनाने की जादूगरी का अध्यात्म से कोई संबंध है या नहीं ? इसका निर्णय हर विज्ञजन को अपने विवेक से करना चाहिए किन्तु इस तथ्य को निश्चित रूप से गिरह बाँध लेना चाहिए कि अध्यात्म मार्ग का अवलम्बन करने पर व्यक्तित्व में उत्कृष्टता की सामर्थ्य का जो लाभ मिलता है, उसके सहारे आत्म सन्तोष जन सहयोग दैवी अनुग्रह की अजस्र वर्षा निश्चित रूप से होती है।



सिद्धियों के भ्रम जंजाल से निकलें वास्तविकता समझें

एक अंग्रेज पादरी अफ्रीका में धर्म प्रचार के लिए गया। जंगली लोगों ने उसे पकड़ लिया और वध करने की तैयारी करने लगे। पादरी को चतुरता सूझी उसने अपने को दैवी शक्ति सम्पन्न सिद्ध करने के लिए अपने नकली दाँतों के जोड़ मुँह से बाहर निकाले और पोपला मुँह दिखाया। इसके बाद फिर नकली दाँत मुँह में डालकर नया ढंग का चेहरा बना लिया ऐसा उसने तीन बार किया। जंगली लोगों ने ऐसा अद्‌भुत दृश्य कभी न देखा था वे उसे देखकर सन्न रह गये। इतना ही नहीं पादरी ने अपने थैले से दर्पण निकाला और उन लोगों को दिखाया। सब ने एक-एक दैन्य आकृति उसमें देखी और अनुमान लगाया कि इसके हाथ में प्रेतात्माओं की शक्ति है। वे बहुत गिड़गिड़ाये और पादरी के गुलाम बनकर रहने लगे।

लगभग इसी घटना की पुनरावृत्ति धूर्त बाजीगर अपने को चमत्कारी सिद्ध पुरुष कहकर मूर्खों की हजामत उलटे उस्तरे से बनाते रहते हैं। एक बाबा बालों में से बालू निकाल देने या ऐसे ही अन्य अजूबे दिखाने के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी पूजा इन करामाती कौतूहलों के नाम पर ही होती थी और नये-नये भक्त इन्हीं किंवदन्तियों से प्रभावित होकर बढ़ते चलते थे। विचारणीय तथ्य यह है कि क्या अध्यात्म का प्रतिफल चमत्कार है।

भगवान् बुद्ध ने अपने एक शिष्य का स्वर्ण कमण्डल तुड़वाकर नदी में प्रवाहित करा दिया था और अपने समस्त शिष्यों को एकत्रित करके यह प्रतिबन्ध लगाया था कि उनमें से कभी कोई किसी प्रकार का अलौकिक चमत्कार न दिखाये। बात यह हुई कि एक राजा ने ऊँचा बाँस गाढ़कर उस पर स्वर्ण कमण्डल लटकाया था और घोषणा की थी कि जो इस पर

चढ़कर उतरेगा वही सिद्ध पुरुष माना जायेगा और राजा उसी का शिष्य बनेगा। इस परीक्षा में कोई ज्ञानवान सफल न हुआ। एक नट कुछ ही समय पूर्व भिक्षु मण्डली में सम्मिलित हुआ था उसे बांस पर चढ़ने का अभ्यास था जो सहज ही चढ़ गया और कमण्डल उतार लाया। उसे बहुत धन और सम्मान मिला। यह समाचार लेकर वह भगवान् बुद्ध के पास आया और अपनी चतुरता की चर्चा करने लगा तो वे बहुत दुःखी हुए और उस सफलता की भर्त्सना करते हुए उपहार को नष्ट करा दिया। उनका कहना था कि यदि चमत्कार ही अध्यात्म की कसौटी बनने लगे तो फिर बाजीगरों की बन आवेगी और तपस्वी, ज्ञानवान और लोक सेवियों की कोई बात भी न पूछेगा।

सर्व साधारण को समझना चाहिए कि आध्यात्म का चमत्कारों से कोई संबंध नहीं। इस मार्ग पर चलते हुए जो अतीन्द्रिय शक्ति विकसित होती है उसका प्रयोग किसी अति महत्त्वपूर्ण प्रयोजन के लिए कोई उच्चस्तरीय आत्माएँ ही कर सकती हैं। वे लोग जो चमत्कार प्रदर्शन में उत्साह दिखाते हैं वस्तुतः सिद्ध पुरुष नहीं बाजीगर होते हैं। जिनके पास वस्तुतः वे हों भी तो वे भूलकर भी उन्हें प्रदर्शन में प्रयुक्त न करेंगे।

सिद्धियाँ अनावश्यक और अस्वाभाविक हैं। उनका सामान्य मनुष्य जीवन में कोई उपयोग नहीं वरन् उल्टी हानि है। इसलिए सच्चे आत्मवेत्ता न तो किसी को चमत्कार दिखाते हैं और न उसके लिए किसी को शिक्षा देते हैं। उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्त्तृत्व की नीति अध्यात्म की सच्ची साधना है जिनके पास यह आधार मौजूद है वे सामान्य स्थिति में रहते हुए भी देवोपम जीवन का आनंद ले सकते और उस आलोक से असंख्यों को लाभान्वित कर सकते हैं। यही सच्चे अर्थों में अध्यात्म का चमत्कार है।

अलौकिक सिद्धियाँ सर्व साधारण के लिए उपयोगी नहीं होतीं इसलिए ईश्वरीय विधान के अनुसार उन्हें अविज्ञात एवं रहस्य के पर्दों में छिपा हुआ ही रहने दिया गया है। यदि वे

सर्वविदित हो जायें या सर्व सुलभ हो जायें तो फिर सामान्य जीवन की क्रिया-प्रक्रिया ही अस्त-व्यस्त हो जायेगी।

मृत्यु का समय यदि पूर्वविदित हो तो मुद्दतों पहले से मनुष्य भयभीत, उदास और खिन्न रहने लगेगा। सामान्य क्रिया-कलापों के प्रति उदासीनता छा जायेगी और मानसिक असन्तुलन के कारण कुछ करते-धरते न बन पड़ेगा। जब अमुक समय से आगे-पीछे नहीं ही मरना है तो वह किसी से भी प्रतिशोध लेने के लिए आक्रमणकारी बन सकता है, निर्भय होकर कुछ भी कर गुजर सकता है। फिर या तो मनुष्य आगा-पीछा न सोचने वाला दुर्दान्त बन जायेगा अथवा निरन्तर खिन्न, उदास रहकर बेवसी और वियोग के आँसू बहाता रहेगा। जीवित रहने का आनंद तभी तक है जबकि मृत्यु का समय ठीक से मालूम न हो। दीर्घजीवन के लिए किये गये प्रयास तभी सफल हो सकते हैं जब मरण की तिथि अनिश्चित समझी जाय और मौत को आगे धकेल सकना संभव माना जाय। जो जल्दी मरने वाले होंगे उनसे कोई विवाह करने को ही तैयार न होगा और उन्हें अविवाहित, उपेक्षित रहकर ही मरना पड़ेगा। जिसे वहाँ जिस प्रकार मरना है उसे उन परिस्थितियों से बचने की तरकीबें पहले से ही अपनाने का अवसर मिल जायेगा और फिर यदि मृत्यु का कोई विधान होता होगा तो उसे कार्यान्वित करना ईश्वर के लिए भी कठिन पड़ जायेगा। संभवतः यही सब समझते हुए भगवान् ने मनुष्य को मृत्यु ज्ञान से वंचित रखा है।

अदृश्य हो जाने की विद्या यदि कोई सीख ले तो वह बड़े से बड़े अपराध करते रहने पर भी पकड़ा न जा सकेगा। ऐसे व्यक्ति नर-नारी के मध्य होने वाले गुह्य आचरणों को देखते रहेंगे और फिर किसी को लज्जा बचा सकना संभव न रह जायेगा।

मानवी इन्द्रियों की क्षमता उतनी ही रखी गयी है जिससे जीवन का आवश्यक क्रम भर ठीक तरह चलता रहे। प्रकाश किरणों का एक नियत स्तर ही आँखों को दिखाई पड़ता है। अपनी आँखों की पकड़ से न्यून एवं अधिक स्तर के दृश्य भी

इस संसार में मौजूद हैं। वे हमें दीखते नहीं। इससे काम के दृश्य देखने में सुविधा रहती है। यदि पानी, हवा, मिट्टी आदि में रेंगने वाले जीवाणु उतने ही स्पष्ट दीखने लगें जितने माइस्क्रोप से देखते हैं तो फिर आँखों के सामने एक अपार भीड़ से घिरी हुई भयंकर मेले जैसी स्थिति दिखाई पड़ने लगेगी। तब काम और बेकाम के दृश्यों का इतना अन्धड़ सामने खड़ा होगा कि बेचारी आँखें हतप्रभ हो जायेंगी और मस्तिष्क के लिए उन दृश्यों को देखकर यह निष्कर्ष निकालना कठिन हो जायेगा कि सामने क्या हो रहा है ?

यही बात कानों के संबंध में है, हमारे कान एक सीमित स्तर की थोड़ी-सी ध्वनियाँ सुन पाते हैं किन्तु उनसे ऊँचे और नीचे कम्पनों की असंख्य ध्वनियाँ अपने चारों ओर मँडराती रहती हैं। यदि वे सभी सुनाई पड़ने लगें तो स्थिति लगभग उसी स्तर की हो जायेगी जैसी कि किसी ट्रांजिस्टर पर संसार के सभी स्टेशन एक साथ बोलने लगने पर विचित्र प्रकार की न समझे जा सकने योग्य मिश्रित ध्वनि प्रवाह की चें-चें असमंजस में डाल देगी अस्तु भगवान् ने आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों में उतनी ही शक्ति दी है जितनी से मनुष्य का आवश्यक कार्य सरलतापूर्वक चलता रहे। इससे न्यूनाधिक देने में मनुष्य को लाभ कम और हानि अधिक हो सकती है। अतीन्द्रिय क्षमता इसी कारण सर्वसुलभ नहीं है जो उसे बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे वे उसमें कौतूहल वृद्धि भले ही करलें, पर परिणामतः उससे हानि ही उठायेंगे।

जिन प्राणियों की निर्वाह प्रक्रिया में जिस विशेषता की आवश्यकता समझी गयी है वह उसे परमात्मा ने उदारतापूर्वक दी है। कुत्ते में सूँघने, बन्दर में उछलने, घोड़े में दौड़ने, सिंह में पछाड़ने की विशेषताएँ उनके जीवन क्रम की सुविधा के अनुरूप हैं। मधुमक्खी, चींटी, दीमक, मकड़ी आदि में भी अनौखे गुण हैं। पक्षियों में उड़ने की विशेषता है यदि वैसी सर्पों को मिल जाय तो सर्वत्र प्राण संकट ही छा जायेगा मनुष्य यदि आकाश में

उड़ने लगें तो फिर सुरक्षा समस्या में ऐसी जटिलताएँ उत्पन्न हो जायेंगी जिनका समाधान ही न हो सके। यदि भगवान् ने एक हाथ में उड़ने की विशेषता दी तो निश्चय है कि दूसरे हाथ से बुद्धि कौशल वापस ले लिया जायेगा ताकि किसी को अति बरतने और सृष्टि संकट उत्पन्न करने की छूट न मिले।

पूर्व जन्मों की स्मृति यदि सबको बनी रहे तो फिर हर व्यक्ति असन्तुष्ट दिखाई पड़े। पूर्व जन्मों के स्त्री, बच्चे याद आते रहने पर बच्चे इस जन्म के माता-पिता से रुखाई रखेंगे और पूर्व जन्मों के स्त्री, पुत्रों के पास जाने के लिए मचलते रहेंगे। पति पूर्व जन्म की पत्नी का कहाँ जन्म हुआ है यह पता लगाकर उससे सम्पर्क जोड़ेंगे और स्त्रियाँ प्रस्तुत की ओर से उदासीन रहकर पूर्व जन्म के पति को तलाश करती फिरेंगी। आधी कमाई इधर आधी उधर—आधा मन और समय इधर, आधा उधर—बँट जाने से अव्यवस्था, उदासीनता एवं असन्तोष की स्थिति ही सर्वत्र संव्याप्त रहेगी। पूर्व जन्मों की स्मृति की घटनाएँ इसलिए कौतूहलवर्धक और अच्छी लगती हैं कि वे कभी-कभी ही देखने-सुनने को मिलती हैं और एक हल्की-सी झलक दिखाकर लुप्त हो जाती हैं। यदि वे स्थायी तथ्य बन जाये और हर किसी को पूर्व जन्म याद रहने लगे तो पारिवारिक जीवन का वर्तमान क्रम सर्वथा उलट जायेगा और उत्तरदायित्वों के बन्धन सर्वथा शिथिल हो जायेंगे।

यही बात अन्य सिद्धियों के संबंध में है। अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियों का वर्णन जहाँ-तहाँ मिलता है वे किसी व्यक्ति विशेष के लिए विशेष स्थिति में कौतूहलवर्धक एवं उपयोगी हो सकती हैं, पर सर्व साधारण के लिए उनका मिलना नये प्रकार के संकट उत्पन्न करने का कारण ही बन जायेगा।

मन की गुप्त बातें या दूसरों के रहस्य जान लेने से तो चोरों की पौ बारह होने लगेगी। वे धनियों के धन का पता लगाकर ठीक स्थान पर घात लगाया करेंगे। मन की बातें दूसरे पर प्रकट होने लगें तो फिर पूछताछ करना ही निरर्थक हो

जायेगा। एक-दूसरे को बिना कुछ कहे पूछे ही प्रयोजन जानने और उत्तर देने का काम निपटा दिया करेंगे। तब सरकारी बजट, शासनाध्यक्षों को दिलाई जाने वाली गोपनीयता की शपथ का कोई मूल्य न रहेगा। तब गुप्तचर विभाग भी तोड़ देना पड़ेगा। झूठ-सच का पता लगाने के लिए जो इतने तरीके काम में लाये जाते हैं, वे भी व्यर्थ माने जायेंगे। युद्ध योजनाएँ पहले से ही प्रकट हो जाया करेंगी। ऐसी दशा में लोक-व्यवहार में जो बुद्धि कौशल प्रयुक्त करना पड़ता है उसकी कोई आवश्यकता न रहेगी। अधिकांश काम तो अपने आप ही समाप्त हो जायेंगे वे बड़ी आसानी से संकेत मात्र में निपट जाया करेंगे।

ज्योतिषी लोग आये दिन तेजी-मन्दी की भविष्यवाणियाँ छापते रहते हैं। पर वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्य को सर्वथा वंचित रखा गया है। मिथ्या डींग हांकने पर रोक नहीं पर यदि यथार्थ में किसी एक व्यक्ति को भी ऐसा ज्ञान हो जाय तो वह एक सप्ताह में अरबपति ही नहीं विश्व के समस्त व्यापार का अधिपति और कुबेर भण्डारी बन सकता है। वह व्यक्ति दूसरों को वह रहस्य बताने की अपेक्षा स्वयं ही व्यापार करने लगेगा। मन्दी आने पर खरीदना और तेजी आने पर बेचने भर का धन्धा करने में वह कभी असफल हो ही नहीं सकता जिसे भावों की घट-बढ़ का सुनिश्चित ज्ञान है। ऐसी दशा में उसे साझीदारी की भी कोई कठिनाई न होगी और बात की बात में ऐसी व्यवस्था बन जायेगी जिनमें उसे करोड़पति बनने में देर न लगे।

यदि तेजी-मन्दी का वास्तविक ज्ञान लोगों को होने लगे तो फिर व्यापार क्षेत्र में घोर अव्यवस्था फैल जायेगी और फिर एक प्रकार का गदर ही खड़ा हो जायेगा। जो वस्तु मन्दी होने वाली है उसे कोई खरीदेगा नहीं और जो महँगी जाने वाली है उसे बेचने के लिए कोई तैयार न होगा। ऐसी दशा में ग्राहकों को अपनी दैनिक आवश्यक वस्तुओं से भी वंचित रह जाना पड़ेगा।

लोगों को यदि अपने भाग्य का पता चल जाय तो कोई कुछ भी प्रयत्न परिश्रम करने के लिए तैयार न होगा। जब हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, भाग्य लेख के अनुसार ही मिलता है तो प्रयत्न पुरुषार्थ की माथापच्ची करने से क्या लाभ ? जो होना है वह तो होगा ही। फिर रोग की चिकित्सा, शत्रुओं से सुरक्षा, उपार्जन के लिए दौड़-धूप, पढ़ने में सिर फोड़ी करने, मर्यादाएँ पालन करने, प्रगति के लिए प्रयत्न करने और संभावित कठिनाइयों से सतर्क रहने का भी कोई तुक नहीं है। ऐसी दशा में प्रगति और सुरक्षा की दृष्टि से किये जाने वाले प्रयास सर्वथा निरर्थक ही बन जायेंगे। ऐसी दशा में सर्वत्र निष्क्रिय अकर्मण्यता का ही साम्राज्य छाया हुआ दिखाई पड़ेगा तब ज्योतिषियों का धन्धा भी बन्द हो जायेगा क्योंकि उन्हें पता ही होगा कि कब कहाँ से कितना पैसा मिलने वाला है ? जो मिलना भाग्यानुसार निश्चित है, वह तो घर बैठे भी आ जायेगा और फिर भविष्य कथन के झंझट में पड़ने से भी क्या लाभ ?

मनुष्य की संभाषण और गायन विशेषता दूसरे प्राणियों की दृष्टि से देवोपम सिद्धि हो सकती है। दो पैरों से चलना और दो हाथों से अद्भुत क्रिया-प्रक्रियाएँ सम्पन्न करना भी अन्य प्राणियों के लिए किसी चमत्कारी सिद्धि से कम नहीं, पर अभ्यास में आ जाने के कारण मनुष्य को यह सब बातें बिल्कुल सामान्य और स्वाभाविक लगती हैं।

जो जितना आवश्यक है वह उतना ही सुलभ है। हमारे जीवन के लिए हवा सबसे अधिक आवश्यक है वह सर्वत्र प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। उससे आगे चलकर पानी का स्थान है। पानी भी प्रायः हर जगह बिना मूल्य मिल जाता है। अन्न उसके बाद है, वह भी खेत-खेत में उपजता है और हर जगह सामान्य मूल्य पर प्राप्त किया जा सकता है। जो धातुएँ जितनी अधिक आवश्यक हैं वे उतनी ही अधिक मात्रा में मिलती हैं। सोना, विष, रेडियम, यूरेनियम आदि की दैनिक जीवन में उपयोगिता न होने से वे कम मात्रा में कठिनाई से मिलते हैं। ईश्वर का यह विधान

बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण है। जिन सिद्धियों की आवश्यकता है वे सामान्य प्रयास से ही मिल जाती है पर अनावश्यक विशेषताओं से मनुष्य को वंचित रखा गया हैं। बाल-बुद्धि को असामान्य ही अद्‌भुत लगता है यदि सिद्धियाँ मनुष्य के हाथ में आ जायें तो सामान्य बन जाने पर उनकी ओर कोई आँख उठाकर भी न देखेगा। इतना ही नहीं उनके कारण उत्पन्न होने वाली अव्यवस्था को देखते हुए संभवतः उन पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाने की भी आवश्यकता पड़ सकती है।



अध्यात्म-अमृत, पारस, कल्पवृक्ष

अध्यात्म की तुलना अमृत, पारस और कल्पवृक्ष से की गई है। इस महान् तत्त्व ज्ञान के संपर्क में आकर मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को—बल और महत्त्व को—पक्ष और प्रयोजन को ठीक तरह समझ लेता है। इस आस्था के आधार पर विनिर्मित कार्य पद्धति को दृढ़तापूर्वक अपनाये रहने पर वह मानव बन जाता है, भले ही सामान्य परिस्थितियों का जीवन जीना पड़े। आध्यात्मवादी की आस्थायें और विचारणायें इतने ऊँचे स्तर की होती हैं कि उनके निवास स्थान अन्तःकरण में अमृत का निर्झर झरने जैसा आनंद और उल्लास हर घड़ी उपलब्ध होता रहता है।

अध्यात्म निस्संदेह पारसमणि है। जिसने उसे छुआ वह लोहे से सोना हो गया। गुण, कर्म और स्वभाव में महत्तम उत्कृष्टता उत्पन्न करना अध्यात्म का प्रधान प्रतिफल है। जिसकी आंतरिक महानता विकसित होगी, उसकी बाह्य प्रतिभा का प्रखर होना नितान्त स्वाभाविक है और प्रखर प्रतिभा जहाँ कहीं भी होगी, वहाँ सफलतायें और समृद्धियाँ हाथ बाँधे सामने खड़ी दिखाई देंगी। लघु को महान् बनाने की सामर्थ्य और किसी में नहीं, केवल अन्तरंग की महत्ता, गुण-कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता में है। इसी को अध्यात्म उगाता बढ़ाता और सँभालता है। फलस्वरूप उसे पारस कहने में किसी को कोई आपत्ति नहीं उसे पाकर अन्तरंग ही हर्षोल्लास में निमग्न नहीं रहता, बहिरंग जीवन भी स्वर्ग जैसी आभा से दीप्तीमान होता है। इतिहास का पन्ना-पन्ना इस प्रतिपादन से भरा पड़ा है कि इस तत्त्व-ज्ञान को अपनाकर कितने कलुषित और कुरूप लौह खण्ड स्वर्ण जैसे बहुमूल्य, महान्, अग्रिणी एवं प्रकाशवान् बनने में सफल हुए हैं।

कल्पना की ललक और लचक ही मानव-जीवन का सबसे बड़ा आकर्षण है। कल्पना लोक में उड़ने वाले ही कलाकार

कहलाते हैं। सरसता नाम की जो अनुभूतियाँ हमें तरंगित, आकर्षित एवं उल्लसित करती हैं, उसका निवास कल्पना क्षेत्र में ही है। भावनाओं में ही आनंद का उद्‌गम है। आहार निद्रा से लेकर इन्द्रिय तृप्ति तक की सामान्य शारीरिक क्रियाएँ भी मनोरम तब लगती हैं, जब उसके साथ सुव्यवस्थित भाव कल्पना का तारतम्य जुड़ा हो, अन्यथा वे नीरस एवं भार रूप क्रिया-कलाप मात्र बनकर रह जाती हैं। उच्च कल्पनाएँ अभाव-ग्रस्त, असमर्थ जीवन में भी आशायें और उमगें संचारित करती रहती हैं। संसार में जितने शरीर सम्पर्क से उत्पन्न सुख है, उससे लाख-करोड़ गुना कल्पना, विचारणा एवं भावना पर अवलम्बित है। उस दिव्य संस्थान को सुव्यवस्थित करने और परिस्थितियों के साथ ठीक तरह तालमेल मिला लेने की पद्धति का नाम अध्यात्म है। इसलिए उसे कल्पवृक्ष भी कहते हैं।

अलंकारिक रूप से कल्पवृक्ष उस पेड़ का नाम है जिसके नीचे बैठकर हर कल्पना, कामना को पूर्ण करने का अवसर मिल जाता है। मोटे अर्थ में जैसा कि कल्पवृक्ष को समझा जाता है, यदि उस तरह का अस्तित्व नहीं रहा होता तो सारे संसार में तबाही उत्पन्न हो जाती। सामान्य मनुष्य वासना, तृष्णा, द्वेष, लोभ-मोह का पुतला होता है और वे लिप्साएँ ऐसी हैं जो कभी तृप्त नहीं होतीं। जितना मिलता है उतनी ही बढ़ती जाती हैं। यदि कथित कल्पवृक्ष कहीं होता और ओछा मनुष्य कुछ घण्टे के लिए भी उसके नीचे बैठ जाता तो सारी विश्व वसुधा को अपनी मुट्‌ठी में करके सबका सुख, सौभाग्य छीन लेता और स्वयं निरंकुश स्वेच्छाचार बरतता। इसी से इस पृथ्वी पर कल्पवृक्ष नहीं और सामान्य मनुष्य उसका लाभ नहीं ले सकते।

पृथ्वी का कल्पवृक्ष—आध्यात्म है। उसकी छाया में बैठने पर अनावश्यक-अवांछनीय-अनुपयुक्त कल्पनाएँ स्वयंमेव तिरोहित हो जाती हैं। जो उचित उत्तम एवं उपयुक्त है, वे ही शेष रह जाती हैं। उनकी पूर्ति के लिए आवश्यक पुरुषार्थ करने की तत्परता अध्यात्मवादी में उत्पन्न होती है, तदनुसार वह अभीष्ट

मनोरथ सरलतापूर्वक पूर्ण करता चला जाता है। बाधा केवल लोभ मोह की पूर्ति में आती है। सरल सौम्य और शुभ कल्पनाएँ, संयम सेवा और सज्जनता से ओत प्रोत सद्भावनायें हर परिस्थिति में हर मनुष्य तृप्त करता रह सकता है। अध्यात्म निस्संदेह कल्पवृक्ष है, वह जिस अंतःकरण में उगेगा, वहाँ न अवांछनीय कल्पनायें उगेंगी और न उनकी पूर्ति में बाधा उत्पन्न होने से असन्तोष उत्पन्न होगा। अध्यात्मवादी व्यक्ति सदा सब परिस्थितियों में अपनी आंतरिक उत्कृष्टता के कारण हँसता, मुस्कराता, तृप्त और सन्तुष्ट देखा जा सकता है। कल्पवृक्ष का यही तो प्रतिफल होना चाहिए सो अध्यात्म मार्ग पर चलने वाला कोई भी, कभी भी, यह लाभ परिपूर्ण मात्रा में ले सकता है।

पुरुष को पुरुषोत्तम, आत्मा को परमात्मा, नर को नारायण और लघु को महान् बनाने की विद्या का नाम अध्यात्म है। धन और बल पाकर लोक में बड़े आदमी बन सकते हैं पर महापुरुष बनने का श्रेय केवल आत्मबल सम्पन्न को मिलता है। ऐसे व्यक्ति की आंतरिक विभूतियाँ इतनी स्थिर और प्रकाशवान होती हैं कि चिरकाल तक दूरवर्ती लोगों तक उनका उत्कर्ष प्रद प्रकाश पहुँचता रहता है। अपने को तो असीम शांति एवं तृप्ति मिलती ही है।

महापुरुष स्वयं धन्य और चन्दन वृक्ष की तरह अपनी सुगन्ध से समीपवर्ती सारे वातावरण को सुगन्धित कर देते हैं। दीपक की तरह वे स्वयं प्रकाशवान् होते हैं और अपने समीपवर्ती क्षेत्र का अन्धकार दूर कर वहाँ दूसरों की आँखें सार्थक बनाने वाली रोशनी उत्पन्न करते हैं। बड़प्पन की इच्छा ओछे व्यक्ति करते हैं पर जिनका दृष्टिकोण विशाल है, उन्हें महापुरुष बनने की ही आकांक्षा रहती है और आध्यात्मवादी आस्थायें उन्हें उस लक्ष्य तक् सफलता एवं सरलतापूर्वक पहुँचा भी देती हैं। बड़प्पन अगणित उलझनें लेकर आता है किन्तु महानता से सारी गुत्थियाँ सुलझती हैं। बड़प्पन में विकृतियों की आशंका पग-पग पर विद्यमान है पर महानता का पथ निर्द्वन्द है। इसी से दूरदर्शी

लोग बड़प्पन को तिलाञ्जलि देकर महानता का अवलम्बन लेते हैं और मनुष्य जीवन की सार्थकता का आनन्द लेते हैं।

भारत की एकमात्र विशालता एवं सम्पदा उसकी अध्यात्मवादी आस्था ही रही है। इसी से उसे 'पृथ्वी का स्वर्ग' और देवताओं का निवास-स्थल कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और समस्त संसार के सामने हर क्षेत्र में हर दृष्टि से सम्मानित अग्रणी बना रहा। जहाँ आंतरिक उत्कृष्टता होगी, वहाँ बाह्य सामर्थ्य एवं समृद्धि की कमी रह ही नहीं सकती। यही विशेषताएँ हमें समस्त विश्व का मार्ग दर्शन करने एवं विविध अनुदान दे सकने योग्य बनाये रह सकीं। अपनी इस विशेषता को खोया तो मणिहीन सर्प की तरह खोखले हो गये।

संसार वालों ने अध्यात्म का प्रथम पाठ पढ़ा है और वे सांसारिक उन्नति की दिशा में बहुत आगे बढ़ गये। साहस, पुरुषार्थ, श्रम, तन्मयता, स्वावलम्बन, नियमितता, व्यवस्था, स्वच्छता, सहयोग जैसे गुण अध्यात्म के प्रथम चरण में आते हैं। इन्हें यम नियम की परिभाषा में अथवा धर्म के दस लक्षणों में गिना जा सकता है। पाश्चात्य देशों ने उतना भर सीखा है। इन्हीं गुणों ने उन्हें शारीरिक, बौद्धिक, संगठनात्मक एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों से भरपूर कर दिया। जो देश कुछ समय पहले तक गई गुजरी स्थिति में पड़े थे, उन्होंने अध्यात्म का प्रथम चरण सद्गुणों के रूप में अपनाया और आश्चर्यजनक भौतिक उन्नति कर सकने में सफल हो गये। यदि वे दूसरे चरण उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता की भूमिका में प्रवेश कर सके होते, आस्तिकता एवं आत्मवादी तत्त्व-ज्ञान को भी अपना सके होते, अध्यात्मवाद का अगला चरण भी बढ़ा सके होते तो उनकी भी वही महानता विकसित हुई होती, जो कभी इस भारत भूमि के निवासी महामानवों में निरन्तर प्रस्फुटित होती थी।

अध्यात्म का तत्त्व-ज्ञान मनुष्य को आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता की विचारणा से ओत-प्रोत भावनाओं से विभोर एवं प्रक्रिया से तत्पर बनाये रखने वाला दार्शनिक अवलम्बन है। हम

ईश्वर के सत्‌चित आनन्द स्वरूप अविनाशी अंग हैं, अस्तु अपनी महानता को अक्षुण्ण बनाये रखें। मानव जीवन महान् प्रयोजन के लिए चिरकाल उपरान्त मिला है, उसका उपयोग उच्च प्रयोजनों के लिए करें। ईश्वर सर्वव्यापी, निष्पक्ष एवं न्यायकारी है, उसके दण्ड एवं क्रोध से बचने के लिए दुर्भावनाएँ एवं दुष्प्रवृत्तियाँ त्यागें। समस्त प्राणी ईश्वर के पुत्र और अपने भाई हैं, इसलिये उनके साथ सद्व्यवहार करें। अपने पाशविक कुसंस्कारों को हटाने के लिए संघर्ष साधना, तितीक्षा, संयम एवं तपश्चर्या का अभ्यास करें। फैली हुई दुष्प्रवृत्तियों को हटाने का पुरुषार्थ कर अपने आत्मबल को विकसित करें। आदर्श जीवन जीकर दूसरों के लिए प्रकाश प्रदान करने वाले उज्ज्वल नक्षत्र सिद्ध हों। उन विचारों से ओत-प्रोत रहें जिनसे शांति मिले। इन्हीं आस्थाओं को हृदयंगम कराने के लिए सारा धर्म कलेवर खड़ा किया है। समस्त कर्मकाण्डों के पीछे इन्हीं आस्थाओं को जीवन में उतारने का मनोवैज्ञानिक उद्देश्य छिपा है।

पर आज के प्रचलित तथा कथित अध्यात्म की दिशा बिल्कुल उल्टी है। वह व्यक्ति को भावनात्मक उत्कर्ष की ओर उठाने की अपेक्षा पतनोन्मुख बनाने में सहायक हो रहा है। भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए तीर्थ स्थान, देव-दर्शन, भजन-कीर्तन आदि के कर्मकाण्ड ही पर्याप्त मान लिये गये हैं, लोगों ने यह सोचना छोड़ दिया है कि इन कर्मकाण्डों का उद्देश्य भगवान् की न्यायकारी सर्वव्यापक सत्ता का हर घड़ी स्मरण दिलाते रहना मात्र है। इस स्मरण का प्रयोजन यह है कि व्यक्ति सबमें ईश्वर की झाँकी करके हर किसी से सद्-व्यवहार में निरत रहे। न्यायकारी के न्याय से डरे और कुछ का कुछ करके फल भोग से बच जाने की बात न सोचे। यदि देव-दर्शन, भजन-कीर्तन आदि के द्वारा उपरोक्त सदाचरण एवं परमार्थ की भावना उदय हो तो ही इन कर्मकाण्डों का महत्त्व है। अन्यथा प्रशंसा करके या प्रसाद खिलाकर परमेश्वर के वरदान, आशीर्वाद पाने की ललक एक भ्रम भरी विडम्बना ही कही जायेगी।

भाग्य एवं ईश्वर की इच्छा से सब कुछ होता है जैसी मान्यता विपत्ति में असन्तुलित न होने एवं सम्पत्ति में अहंकारी न होने के लिए एक मानसिक उपचार मात्र है। हर समय इन मान्यताओं का उपयोग अध्यात्म की आड़ में करने से तो व्यक्ति कायर अकर्मण्य और निरुत्साही हो जाता है। सोचता है, अपने करने से क्या होगा, जो भाग्य में होगा, ईश्वर की इच्छा होगी वही होगा। पुरुषार्थ की दौड़-धूप करने से क्या लाभ ? इस प्रकार की मान्यता वाले की प्रगति का क्रम समाप्त हो गया ही समझना चाहिए।

देव शक्तियों से लोग अपने में देवत्व के अवतरण की माँग करते, उनकी विशेषताओं, प्रेरणाओं एवं महानताओं को अपने में जागृत करने की आशा रखते तो देव-पूजन का प्रयोजन सिद्ध होता। पर अब तो लोग देव-पूजन इस शर्त पर करते हैं कि हमारी अमुक मनोकामना बिना पुरुषार्थ किये अथवा योग्यता उत्पन्न किये ही देव कृपा से अनायास ही पूरी हो जाय। इस विकृति का परिणाम यह हुआ कि लोग अपनी योग्यता बढ़ाने एवं पुरुषार्थ करने में जो प्रयत्न करते उन्हें छोड़कर परावलम्बी होते चले गये और उन्हें दीन—दरिद्र रहना पड़ा। उल्टी और विकृत मान्यतायें किसी को कुछ लाभ नहीं दे सकतीं केवल दुर्बलता और हानि ही प्रस्तुत कर सकती हैं।

अध्यात्म का तात्पर्य है आत्मा की परिधि का विस्तार। अपने अहम् को—स्वार्थ परता की संकीर्ण परिधि को विश्व-मानव के लिए परमात्मा के लिए उत्सर्ग कर देना यही आत्मिक प्रगति का एकमात्र चिन्ह है। अनादिकाल से यही परम्परा चली आ रही है कि जो अपने व्यक्तिगत लोभ-मोह, यश एवं सुख को जिस हद तक विश्वमंगल के कृत्य में परित्याग करता है, वह उसी सीमा तक परमात्मा के सान्निध्य में पहुँचा माना जाता है। पर अब तो ठीक उल्टा है जो जितना स्वार्थी, संकीर्ण, अनुत्तरदायी अकर्मण्य है, वह उतना ही त्यागी-तपस्वी है। सबके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझकर-आत्मसुख को लोक-मंगल में घुला देने की

प्रवृत्ति अब अध्यात्मवादियों में दिखाई नहीं पड़ती वरन् लोग अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं की अभिवृद्धि के लिए ईश्वरीय सहायता की याचना-कामना किया करते हैं और उसी तराजू पर दैवी कृपा या अकृपा का—अपनी पूजा-पत्री की सफलता, असफलता का-मूल्यांकन करते हैं। फलस्वरूप अब अध्यात्म व्यक्तिवाद का पोषक बनता जाता है और ऋद्धि-सिद्धियों से लेकर स्वर्गमुक्ति तक विभिन्न स्तर के स्वार्थों की पूर्ति के लिए लिप्साएँ उत्पन्न करता है। यह स्तर बदला न गया तो तत्त्वज्ञान का महान् दर्शन मानव जाति के लिए और अधिक विपत्ति उत्पन्न करने वाला बनता चला जायेगा।

अध्यात्म दर्शन में उत्पन्न हुई विकृतियों ने हमारा मानसिक और सामाजिक ढाँचा चरमरा कर रख दिया है। विद्या, सदाचार, लोक-सेवा और उदात्त मनोभूमि के कारण पूजे जाने वाले साधु-ब्राह्मण जब वंश और वेश के आधार पर पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने लगे तो उन महान् गुणों की ओर ध्यान देना ही बन्द हो गया। ओछे लोग जहाँ भी पूजे जायेंगे, वहाँ विकृतियाँ ही बढ़ेंगी, कर्म के आधार पर आरम्भ हुआ वर्णाश्रम धर्म जब वंश पर अवलम्बित हो गया और उसमें नीच-ऊँच का भेदभाव घुस गया तो ब्राह्मण दुर्गुणी होने पर भी पूजा जाने लगा और शूद्र सद्‌गुणी होने पर भी दुत्कारा जाने लगा। जहाँ गुणों का वर्चस्व समाप्त हो जाये और अकारण ही लोगों को मान या अपमान मिलने लगे तो वह समाज अपनों की और दूसरों की दृष्टि में अधःपतित होगा ही।

ओछा तत्त्व-दर्शन अपनाये रहने वाला व्यक्ति और समाज कभी भी ऊँचा नहीं उठ सकता। दर्शन ही प्रेरणाओं का आधार है। उसी के अनुरूप विचारणायें, आकांक्षायें और क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। दर्शन ही व्यक्ति को ढालता है और उसी ढाँचे में समाज का कलेवर खड़ा होता है। हम अपने समाज और संसार को समर्थ समृद्ध और सुविकसित बनाना चाहते हों तो उसका

सर्वप्रमुख उपाय यही है कि वर्तमान विकृतियों का परिशोधन किया जाय।

यदि इस स्थिति को सुधारा, सँभाला और बदला न गया तो भावी परिस्थितियाँ दिन-दिन अधिक भयावह होती चली जायेंगी। वैयक्तिक जीवन में आदर्शवादिता और उत्कृष्टता उत्पन्न करने वाला जब प्रकाश ही बुझ जायेगा तो अन्धकार में भटकने वाला दुर्दशा ग्रस्त ही होगा।

आज की महत्तम आवश्यकता यह है कि हमारा तत्त्व-ज्ञान और दर्शन अपने सौम्य पथ से भ्रष्ट होकर जिस अवांछनीयता की दिशा में चल पड़ा है, उसे रोका और टोका जाये। दिग्-भ्रांत जन-मानस को वस्तु-स्थिति से परिचित कराया और अध्यात्म के महान स्वरूप, उपयोग एवं प्रतिफल से भली-भाँति अवगत कराया जाये।



उपासना, साधना, आराधना की योगत्रयी

मानवी सत्ता के तीन पक्ष हैं—(१) भावना, (२) विचारणा, (३) क्रिया-प्रक्रिया। इन तीनों को परिष्कृत बनाने के लिए पुरातन प्रतिपादन के अनुसार भक्ति योग, ज्ञान और कर्म योग के अभ्यास की आवश्यकता बताई गई है। यह एक नियत समय या नियत स्थान पर, नियत विधान के साथ हो सकने वाले कृत्य नहीं हैं वरन् ऐसे उच्चस्तरीय निर्धारण हैं जिनके अनुसार कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर की गतिविधियों का नियमित रूप से निरन्तर सूत्र संचालन करना पड़ता है। उपासना में अन्तःकरण को साधना में मनःसंस्थान को और आराधना में क्रिया कलापों को उच्चस्तरीय उद्देश्यों के अनुरूप गतिशील रखना पड़ता है। श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन, निमेष-उन्मेष, गृहण-विसर्जन जैसी गतिविधियाँ अनवरत रूप से निरन्तर चलती रहती हैं। ठीक इसी प्रकार आत्म सत्ता के उपरोक्त तीनों पक्षों को इस प्रकार प्रशिक्षित करना पड़ता है कि वे अभ्यस्त कुसंस्कारिता से छुटकारा पाकर सुसंस्कारी शालीनता के ढाँचे में ढलने के लिए विवश हो सकें।

पूजा पाठ के समस्त उपचारों का एकमात्र लक्ष्य यह उत्कृष्टता सम्पादन ही है। परब्रह्म को किसी उपहार मनुहार के सहारे फुसलाया नहीं जा सकता। उसने नियत क्रम जड़ चेतन सभी को बाँधा है और स्वयं भी बँध गया है। प्रशंसा के बदले अनुग्रह और निन्दा के बदले प्रतिशोध लेने पर यदि भगवान उतर पड़े तो समझना चाहिए कि व्यवस्थापरक अनुबन्ध समाप्त हो गये और सर्वतोमुखी अराजकता का उपक्रम चल पड़ा। ऐसा होता नहीं है। लोगों का भ्रम है जो सृष्टा को फुसलाने और नियति क्रम का उल्लंघन करने वाले अनुदान इसलिए माँगते हैं कि वे पूजा करने के कारण पक्षपात के अधिकारी हैं। यह बाल बुद्धि जितनी जल्दी हट सके उतना ही अच्छा है। पूजा उपचार

का तात्पर्य चेतना संस्थान को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढालने का प्रभावी व्यायाम पराक्रम प्रशिक्षण मात्र है। इस या उस प्रकार जो अपने चेतना क्षेत्र को जितना समुन्नत बना सकेगा वह उतना ही ऊँचा उठेगा, आगे बढ़ेगा और देवत्व के क्षेत्र में प्रवेश पाने का अधिकारी बनेगा।

उपासना का उद्देश्य है—आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ देना। आत्मा अर्थात् अन्तःकरण, भाव संस्थान जिसके साथ मान्यताएँ, आकांक्षाएँ लिपटी रहती हैं। परमात्मा अर्थात् उत्कृष्ट आदर्शवादिता। स्मरण रहे, परमात्मा कोई व्यक्ति विशेष नहीं, सृष्टि में जितना भी देव पक्ष है उसके समुच्चय को-आत्माओं के समष्टि समुदाय को परमात्मा कहते हैं। संक्षेप में व्यापक क्षेत्र की सत्प्रवृत्तियों का समग्र रूप ही मनुष्य का इष्ट उपास्य है। इसी के साथ आत्मसात, घनिष्ठतम, एकाकार होते जाना ही परमात्मा की उपासना है। सर्वविदित है कि उपासक का स्तर ऊँचा होगा और उपास्य का स्वरूप वास्तविक होगा तो उन दोनों की घनिष्ठता का प्रभाव इसी रूप में प्रकट होगा कि उपासक उपास्य के तद्रूप बनता चला जाय।

ईंधन आग के जितना समीप पहुँचता है उतना ही गरम होता जाता है। जब वह इष्ट से लिपट जाता है उसकी सत्ता अग्नि रूप में प्रकट होती है नाला नदी में, बूँद समुद्र में, नमक पानी में मिलने पर उन्हें एकात्मक होते देखा जाता है। चन्दन के निकट उगे हुए झाड़-झंखाड़ सुगन्धित होते हैं। लोहा पारस का स्पर्श करके सोना बनता है। पेड़ से लिपटकर बेल उतनी ही ऊँची चढ़ती जाती है। पत्नी का समर्पण पति के समस्त यश वैभव—स्नेह सहयोग की भागीदारी खरीद लेता है। यह प्रक्रिया भाव-भरी उपासना से सम्पन्न होती है। परमात्मा के साथ—आदर्शवादी देव परिवार के साथ मनुष्य जितना भाव और कर्म से एकीभूत होता जाता है उसी अनुपात में उसका प्रभाव भी हाथों हाथ बढ़ता है। बिजली घर के साथ संबंध जुड़ते ही बल्व जलने और पंखे चलने लगते हैं। दो तालाबों के बीच नाली

बना दी जाय तो ऊँचे वाले का पानी नीचे वाले में चलता रहता है। जब तक कि दोनों की सतह एक नहीं हो जाती। उपासना यदि कर्मकाण्ड की चिन्ह पूजा मात्र हो—उपहार मनुहार की लकीर पिट रही हो तो बात दूसरी है अन्यथा आत्मा के परिष्कृत एवं विशद रूप परमात्मा के बीच यदि घनिष्ठ आत्मीयता जुड़े तो उसकी परिणति स्पष्टतः यही हो सकती है कि मनुष्य में देवत्व उभर पड़े। उसका चिन्तन चरित्र और व्यवहार वैसा बन पड़े जैसा उदात्त दृष्टि वाले भगवत भक्तों का होना चाहिए। इस सन्दर्भ में विभिन्न सम्प्रदायों ने कई प्रकार के पूजा विधान बनाये हैं उनमें से कोई भी चुना जा सकता है किन्तु उस कलेवर के अन्तराल के आदर्शों के प्रति आत्म समर्पण की, जीवन को उसी स्तर का पवित्र प्रखर बनाने की ललक होनी चाहिए। इसी ललक को भक्ति भावना कहते हैं। इष्ट की आकृति मनुष्य जैसी या सूर्य शिवलिंग जैसे प्रकृति पदार्थ की प्रयुक्त हो सकती है। पर ध्यान रहे उसे विराट की प्रतीक प्रतिमा भर माना जाये। ऐसा न हो कि उस सीमित में असीम को सीमाबद्ध करने की भूल की जाय। उपासना यदि निर्भ्रान्त और श्रद्धा विश्वास से भरी पूरी है तो कोई कारण नहीं कि उसका प्रभाव भक्त में स्तर से क्रमशः उच्च से उच्चतर, उच्चतर से उच्चतम बनाने का प्रगति क्रम निरन्तर गतिशील न बना रहे। यह यात्रा परम लक्ष्य तक पहुँचकर ही रुकती है।

उपासना का उपरोक्त तत्त्व दर्शन समझ लेने के उपरान्त शेष इतना ही रह जाता है कि उसे भावनात्मक व्यायाम की तरह पूजा उपचार के क्रिया कृत्यों के सहारे आगे बढ़ाया जाय। इसके लिए किस पद्धति का अवलम्बन किया जाय। इसका उत्तर प्रज्ञा परिजनों के लिए एक ही है कि उनकी जैसी मनोभूमि के लिए ' प्रज्ञायोग' की विधि व्यवस्था ही सर्वोत्तम सिद्ध होगी। यह सर्वांगपूर्ण है। इसमें उपासना, साधना और आराधना के तीनों तत्त्वों का समान रूप से समावेश है जबकि अन्य पद्धतियों में से अधिकांश एकांगी पायी जाती हैं। प्रज्ञायोग की संक्षिप्त किन्तु

सारगर्भित रूपरेखा अगले पृष्ठों पर अलग से प्रस्तुत है। कारण शरीर में सन्निहित भाव श्रद्धा को दिशा देने और ऊँचा उठाने के लिए उपासनात्मक आवश्यकता की पूर्ति प्रज्ञायोग के सहारे सम्पन्न की जानी चाहिए।

साधना अर्थात् अपने आप को साधना। उसके अनगढ़पन, पिछड़ेपन, कुसंस्कार का निराकरण संशोधन, निम्न योनियों से क्रमिक यात्रा करते हुए मनुष्य जन्म तो प्राणी भगवान के अनुग्रह के प्राप्त कर लेता है। पर पिछली कुसंस्कारिता से पीछा छुड़ाना और मानवी गरिमा के उपयुक्त विशिष्टता उत्पन्न करना उसका अपना काम है। भगवान इसी आधार पर किसी की पात्रता जाँचते हैं और उसे अधिक ऊँचे उत्तरदायित्व, पद, वैभव प्रदान करते हैं। महामानव मनीषी, ऋषि सिद्ध पुरुष, देवात्मा, अवतार आदि इसी स्तर की प्रगति पदोन्नति हैं जिन्हें मनुष्य पात्रता प्रमाणिकता सिद्ध करने के उपरान्त विजेता की तरह उपहार में प्राप्त करता है। चिन्तन और चरित्र में अधिकाधिक उत्कृष्टता का समावेश ही साधना है। इसके लिए पिछले कुसंस्कारी ढर्रे से पग-पग पर जूझना पड़ता है। कुविचारों के सम्मुख सद्विचारों की सेना खड़ी करते हुए उन्हें मल्ल युद्ध में परास्त करना पड़ता है।

मन को मारना अर्थात् साधना अध्यात्म क्षेत्र का सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना गया है। जो मन के पीछे चलते हैं वे अनगढ़ घोड़े की पूँछ में अपनी गर्दन बाँधकर झाड़झंखाड़ों में खिंचते—घिसटते फिरते और लहू लुहान होकर वे मौत मरते हैं। जिस मनो निग्रह को चित्तवृत्ति निरोध को आत्मिक प्रगति का मेरुदण्ड माना गया है उसे नट बाजीगरों द्वारा बरती जाने वाली एकाग्रता मात्र नहीं समझना चाहिए। उसका तात्पर्य है मन को कुसंस्कारी भटकावों से रोककर उत्कृष्टता के, लक्ष्य के राजमार्ग पर संकल्पपूर्वक चल पड़ने की अटूट भाव श्रद्धा। कहा गया है—" जिसने अपने को जीता वह विश्व विजयी है।" इस युक्ति में बहुत कुछ सार है। जिसका दबाव अपने स्वभाव तक को

बदलने में सफल न हो सका उस असफल व्यक्ति को कौन मान्यता देगा ? कौन उसकी बात सुनेगा ? कौन उसके कहने पर चलेगा ? व्यक्तित्व की प्रामाणिकता इसी कसौटी पर कसी जाती है कि वह अनगढ़ मन के इशारे पर कठपुतली की तरह नाचता है अथवा मनस्वी घुड़सवार की तरह अपने वाहन को अभीष्ट दिशा में अभीष्ट गति से चलाने दौड़ने में समर्थ रहता है।

साधना हो या उपासना उसकी चाबी भरने के लिए कोई समय नियत हो सकता है किन्तु काम इतने भर से बनने वाला नहीं। घड़ी के पुर्जों को अनवरत क्रम से चलना और सुइयों को बिना विश्राम के चलते रहना पड़ता है। यह दोनों ही प्रक्रिया ऐसी हैं जिनमें अपनी क्रिया, विचारणा और आकांक्षा को हर घड़ी परखना और सुधारना-सँभालना पड़ता है। खजाने के रक्षक, जेल के बार्डर और सीमा के प्रहरी निरन्तर चौकस रहते हैं। जीवन सम्पदा में व्यतिरेक न उत्पन्न होने पाये, इसके लिए जो सर्वदा जागरूक रहता है और अवांछनीयता के प्रवेश करते ही रक्त के श्वेत कणों की तरह विजातियों से गुथ पड़ता है उसी को विजेता कहते हैं। प्रशंसा, प्रतिष्ठा, सम्पन्नता, सफलता जैसी विभूतियाँ अर्जन करने में ऐसे पराक्रमी लोग ही समर्थ होते हैं।

आत्म निर्माण में गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता अपनानी होती है। पर उस प्रयास का अभ्यास कहाँ हो ? सिद्धान्त को आदत में बदलने के लिए कहीं न कहीं अभ्यास तो करना ही होगा। बलिष्ठता के लिए व्यायामशाला विद्वता के लिए पाठशाला, धनाढ्य बनने के लिए उद्योग शाला का आश्रय लेना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार आत्म निर्माण के लिए व्यक्तित्व में जिन सत-प्रवृत्तियों के समावेश की आवश्यकता पड़ती है उसके लिए कोई न कोई कार्य क्षेत्र तो चाहिए ही। समझा जाना चाहिए कि इस स्तर का नियमित, निरन्तर, दीर्घकालीन अभ्यास चलाते रहने के लिए एक सुनियोजित प्रयोगशाला का कार्य परिवार के वातावरण में ही संभव हो सकता है। पशु जीवन में जिन

उत्कृष्टताओं से कोई वास्ता न पड़ा था उसे मनुष्य जीवन में अपनाना पड़ता है। यह कार्य पठन, श्रवण से संभव नहीं। प्रवृत्तियाँ दीर्घकालीन अभ्यास से स्वभाव का अंग बन जाती हैं। परिवार में पग-पग पर हर सदस्य को मर्यादा पालन, अनुशासन, सहकार, आत्म भाव एवं उदार व्यवहार का अभ्यास करना पड़ता है। लगता है इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाया गया है। उस सामाजिकता का अभ्यास करने के लिए परिवार की छोटी प्रयोगशाला का संचालन सौंपा गया है। इसमें दुहरा लाभ है। इसमें आत्मिक सद्गुणों का अभ्यास तथा एक छोटे उद्यान को सुविकसित बनाकर सृष्टि सौन्दर्य बढ़ाने, सृष्टा का मनोरथ पूरा करने वाला उपक्रम है। यह पारिवारिकता ही है जो आत्म विकास का उद्देश्य पूरा करती है और समुन्नत होते " वसुधैव कुटुम्बकम्" की विश्व परिवार की युग साधना सम्पन्न करती है।

उपासना साधना के अतिरिक्त तीसरा कार्यक्रम है—आराधना। आराधना अर्थात् विराट ब्रह्म की विश्वमानव की सेवा संलग्नता। हर भगवद्भक्त को भजन एवं जीवन परिष्कार के साथ-साथ इस विश्व उद्यान को सुन्दर, समुन्नत बनाने के लिए किसी न किसी रूप में अपने श्रम, समय और साधन का एक अंश नियमित रूप से लगाना पड़ा है। साधु ब्राह्मण, वानप्रस्थ, परिव्राजक स्तर के सभी धर्म प्रेमी किसी न किसी रूप में लोक मंगल के लिए सार भरे अनुदान प्रस्तुत करते रहे हैं। इसके अभाव में आध्यात्मिक प्रगति का लाभ किसी को भी नहीं मिला। भूमिशोधन तथा बीजारोपण की उपासना साधना कहा जा सकता है। पर फसल इतने से ही नहीं काटी जा सकती।

युग संधि में सर्वोत्तम लोक साधना एक ही है—लोक का परिष्कार। इसके लिए जन सम्पर्क साधने और जन-जन की युगान्तरीय चेतना से परिचित अनुप्राणित करना प्रमुख एवं प्रधान कार्य है। व्यक्ति निर्माण परिवार निर्माण और समाज निर्माण के बहुमुखी कार्यक्रम इन दिनों इसी निमित्त चल रहे हैं।

प्रज्ञासंस्थानों का निर्माण तथा प्रज्ञा अभियान का संचालन जिन उद्देश्यों को सामने रखकर अग्रसर हो रहा है उसे लोक सेवा की सामयिक एवं सर्वोत्तम प्रक्रिया कहना चाहिए। इसी में सम्मिलित होकर सहभागी बनकर आराधना का उद्देश्य पूरा होता है। सभी प्रज्ञा परिजनों को अपनी आत्मबल सम्पादन प्रक्रिया में उपासना और आराधना का समावेश करना चाहिए।

आत्मिक प्रगति के लिए जिन तीन सोपानों पर चढ़ना पड़ता है उनमें उपासना, साधना के अतिरिक्त तीसरा मोर्चा आराधना का रह जाता है। आराधना के लिए अन्तःकरण कुरेदना पड़ता है। साधना के लिए परिवार की प्रयोगशाला में अपने निर्धारणों को परिपक्व करना पड़ता है। आराधना का अर्थ है—लोक मंगल के सर्वोत्तम उपाय—सत्प्रवृत्ति संवर्धन में निरत होना। संक्षेप में इसी को समाज सेवा, लोक साधना, जन कल्याण, पुण्य परमार्थ आदि नामों से पुकारते हैं। यह भी मानवी गरिमा का एक सुनिश्चित पक्ष है। इसकी उपेक्षा करने पर सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव का अंग बना सकना संभव ही नहीं हो पाता। सिद्धान्तों का समझना, पढ़ना, सुनना पर्याप्त नहीं। इतने भर से मनोविनोद भर होता रहता है, पल्ले कुछ नहीं पड़ता। श्रेष्ठता को स्वभाव का अंग बनाने के लिए एक ही मार्ग है—पुण्य परमार्थ का प्रयोग अभ्यास। इसलिए सेवा साधना को मानवी गरिमा का अविच्छिन्न अंग ठहराया गया है और स्वार्थ परायण को अपराधी की तरह घृणित बताया गया है। मनुष्य का अस्तित्व पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। अन्य प्राणी तो कुछ दिन ही माता की सहायता लेकर स्वावलम्बी बन जाते हैं, पर मनुष्य को आजीवन दूसरों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। अन्न, वस्त्र, पुस्तक, औषधि आजीविका जैसे साधनों से लेकर पत्नी, पिता, माता, सास, श्वसुर आदि संबंधियों की उदार सहायता बिना एक पल भी काम नहीं चलता। एकाकी जीवन अन्य प्राणी जी सकते हैं, पर मनुष्य की संरचना को देखते हुए वैसा संभव नहीं। समाज सहयोग से रहित व्यक्ति को रामू भेड़िये

जैसा वनचर, मूक-वधिर होकर रहना पड़ेगा। इस उपकार का प्रत्युपकार होना ही चाहिए। सहयोग आदान-प्रदान का उदारता का सिलसिला चलना ही चाहिए। यही प्रकारान्तर से पुण्य-परमार्थ है। ऋण मुक्ति, सद्‌गुणों की उपलब्धि, आत्मीयता विस्तार की विभूति जैसी अनेकों सुखद संभावनाएँ लोक मंगल की साधना के साथ जुड़ी हुई हैं। भजन का वास्तविक तात्पर्य परमार्थ है। संस्कृत की ' भज्-सेवायां' धातु से भजन शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है—सेवा को जीवन क्रम में सम्मिलित रखना। व्यक्ति समाज को समुन्नत बनाये। समाज व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने का अवसर प्रदान करे। यही है—' देवान् भावयतानेन्   का गीता प्रतिपादन। हम देवत्व का संवर्धन परिपोषण करने वाली सेवा-साधना में निरत रहें तो बदले में वह परिपुष्ट हुआ देवत्व हमें सर्वतोमुखी प्रगति के साथ जुड़ी हुई अगणित विभूतियों से सुसज्जित करेगा और कृत-कृत्य बनाकर रहेगा।



मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा